विवेकानन्द शताब्दी-जयन्ती ग्रन्थमाला

चतुर्थ स्तबक

उपनिषत्-संकलन



रामकृष्ण मिशन कलकत्ता विद्यार्थी आश्रम
बेलघरिया

विवेकानन्द शताब्दी जयन्ती ग्रन्थमाला

चतुर्थ स्तबक

उपनिषत्-संकलन

प्रकाशक की प्रीति और सौजन्य सहित



रामकृष्ण मिशन कलकत्ता विद्यार्थी आश्रम
पो० बेलघरिया, जिला २४ परगना, प० बंगाल

प्रकाशक
स्वामी सन्तोषानन्द
रामकृष्ण मिशन कलकत्ता विद्यार्थी आश्रम
पो० बेलघरिया, जिला २४ परगना

प्रथम प्रकाशन :
स्वामी विवेकानन्द-जन्मतिथि
३ माघ १३६९ : १७ जनवरी १९६३

मूल्य एक रुपया

मुद्रक : उमादत्त शर्मा
रत्नाकर प्रेस,
११ए, सैयद शाली लेन, कलकत्ता-७

42

निवेदन

श्री भगवान् की कृपा से विवेकानन्द-शताब्दी-जयन्ती ग्रन्थमाला का चतुर्थ स्तबक प्रकाशित हुआ। इस में उपनिषद् से संकलित मन्त्र के साथ संयोजित हुई है, वेदमूर्ति भगवान श्रीरामकृष्ण की संक्षिप्त जीवनी।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "उनकी (रामकृष्ण परमहंसदेव की) जीवनी एक अपार तेज-सम्पन्न संधानकारी आलोक की न्याईं है—जिसकी सहायता से वेद का यथार्थ मर्म जनसमाज में प्रकटित हुआ है।" स्वामीजी के इस वचन से स्पष्ट ही समझ में आता है कि वर्तमान युग में परमहंसदेव की जीवनी के सहारे ही सर्वसाधारण के लिये उपनिषद् का यथार्थ मर्म हृदयंगम करना सम्भव है। इसी कारण इस ग्रन्थ में परमहंसदेव की संक्षिप्त जीवनी मुद्रित की गई है।

बेलूड़ विद्यामन्दिर के अध्यक्ष स्वामी तेजसानन्द ने परमहंसदेव की जीवनी रचना की पण्डितप्रवर श्रीविधुभूषण तर्क-वेदान्ततीर्थ ने उपनिषद् मन्त्रों का संग्रह और श्रेणी-विभाजन किया है। सामान्य पाठक सरलता से समझ सके, इसलिये मन्त्रों के साथ-साथ उनके सरलार्थ भी दिये गये हैं। यह सरलार्थ प्रस्तुत किया गया है स्वामी गम्भीरानन्द द्वारा सम्पादित 'उपनिषद्-ग्रन्थावली' के सहारे। मन्त्रों को पढ़ कर जिन्हें और विशद-भावेन उनके पाठ के लिये आग्रह होगा, उनकी

सुविधा के लिये प्रत्येक मन्त्र के नीचे उपनिषद् का नाम और मन्त्र की परिचायक संख्या दी गई हैं।

जिन्होंने श्रीरामकृष्णदेव की जीवनी का हिन्दी में अनुवाद किया है और जिनकी आर्थिक सहायता से इस जयन्ती ग्रन्थमाला का प्रकाशन हो सका, उन दोनों की विशेष आपत्ति के कारण उनके नाम प्रकाशित नहीं किये गये। ग्रन्थ का विशद प्रचार जिससे हो, इस उद्देश्य से इसका मूल्य बहुत ही कम निर्धारित हुआ है।

जिन सहृदय व्यक्तियों की अकुंठ सहायता से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका, उनके सर्वांगीण कल्याण हेतु श्रीभगवान् से प्रार्थना है।

प्रकाशक

सूची-पत्र

युगावतार श्रीरामकृष्ण

"जैसा मत वैसा पथ।"

—श्रीरामकृष्ण





युगावतार श्रीरामकृष्ण

प्रस्तावना

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधुनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"

"हे भारत, जब-जब धर्म का पतन और अधर्म की वृद्धि होती है, मैं (माया के प्रभाव से) आत्म-शरीर का सृजन कर इस पृथ्वी पर अवतीर्ण होता हूँ। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिये और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिये तथा धर्म संस्थापनके उद्देश्य से मैं युग-युग में प्रकट होता हूं।" यह कहना अनावश्यक ही है कि अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में इसी तरह की एक संकटपूर्ण परिस्थिति आ गई थी। पाश्चात्य सभ्यता के तत्काल मनोरम, जड़वादी एवं भोग ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, इसी भावना के भ्रमवश मनुष्य विनाश के पथ पर तेजी से चल रहे थे। भारतीय सभ्यता भारत के धर्म, संस्कृति, शिक्षा-क्षेत्र में एक प्रबल उथल-पुथल के कारण आत्म-विस्मित होकर पराये पर निर्भर और पराये की नकल करने से जड़वादी होती जा रही थी। जीवन और मृत्यु के इस संयोग-स्थल में युग की आवश्यकता को पूरी करने के लिये भगवान ने स्वयं श्री रामकृष्ण के रूप में प्रकट होकर पुण्य-भूमि भारतवर्ष को और एक बार कृतार्थ किया।

श्रीराम-कृष्ण का आविर्भाव उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में बंगाल के ग्रामीण अंचल हुगली जिला के कामारपुकुर गाँव में हुआ था। आपने

अपने अलौकिक त्याग और तपस्या के बल पर सब धर्मों और सभी शास्त्रों के मर्म को अपने जीवन में उपलब्ध कर एक नवीन एवं अत्यन्त उदार आदर्श की स्थापना की। आपके माधुर्य मंडित जीवन की अपूर्व आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, अमृत सदृश लीला की कथा एवं मनुष्यमात्र के उपकार के लिये उपदेशों ने सारे विश्व के मानव-समाज में आस्तिकता की भावना भर दी। आपने भटके हुए को कल्याण के पथ की दिशा बताई और आपकी वाणी आज तक तृषित मानव मन के लिये अपार तृप्ति और शांति प्रदायिनी अमृतवाणी वर्षा रही है। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने श्री राम-कृष्ण को श्रद्धांजलि अर्पण करते हुए कहा है :—

"श्री राम-कृष्ण परमहंस का जीवनवृत्त धर्म को साक्षात् उपलब्ध करने का इतिहास है। उनका जीवन हमें भगवान को साक्षात् करने में सहायता देता है...।

श्री राम-कृष्ण हैं जीता-जागता विश्वास का उज्ज्वल दृष्टांत, जिनसे हजारों नर-नारियों को आज शांति और सांत्वना मिल रही है...।"

फ्रांसीसी मनीषी रोमा रोलाँ ने श्री राम-कृष्ण के जीवन के बारे में कहा है :—

"श्री राम-कृष्ण का जीवन तीस करोड़ मानव के दो हजार वर्ष के गंभीर आध्यात्मिक साधना की चरम परिणति, मानो हजारों रागों का एक समन्वित स्वर-संगम (एकतानी गीत) है, जहाँ मानव जाति के हजारों धर्म और हजारों मतवादों का अभिनव समन्वय हुआ है।"

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय संस्कृति के प्रतीक युगावतार श्री राम-कृष्ण की सार्वभौम जीवनी को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

वंश-परिचय एवं जन्म-वृत्तान्त

श्री राम-कृष्ण की जन्म-भूमि कामारपुकुर आज एक परम पवित्र तीर्थ बन गई है। अगणित भक्तों के आगमन और उनके कंठ से उच्चरित नाम ध्वनि से शांत सुन्दर गाँव आज गूँज रहा है। कामारपुकुर गाँव क्षेत्रफल में छोटा होने पर भी अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास के बहुतेरे प्रमाण आज भी वहाँ इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। इसी गाँव के पश्चिम, करीब एक कोस के फासले पर देरेमानक गाँव में श्री मानिक-राम चट्टोपाध्याय नाम के एक धार्मिक मध्यवित्त ब्राह्मण रहते थे। सन् १७७५ ई० में उनके प्रथम पुत्र क्षुदिराम और बाद में राम लीला नाम की एक पुत्री तथा निधि राम और कान्हाईराम नाम के और दो पुत्रों का जन्म हुआ। मानिकराम के दिवंगत होने पर परिवार का सारा बोझ उनके बड़े बेटे क्षुदिराम पर पड़ा। वे और उनकी धर्मपत्नी चन्द्रमनि देवी गृह देवता श्री रामचन्द्र पर पूरा भरोसा कर परिवार की सारी जिम्मेवारी को निवाहते रहे। गाँव वालों के मन में इस ब्राह्मण-दम्पति पर उनके उन्नत चरित्र, देवताओं पर भक्ति, दया तथा दानशीलता एवं निर्भीक सत्यनिष्ठा के कारण बड़ी श्रद्धा थी।

कुछ ही दिनों में धर्मपरायण क्षुदिराम को अचानक एक परीक्षा का सामना करना पड़ा। प्रजाओं के सताने वाले गाँव के जमींदार रामानन्द-राय ने एक रैयत पर झूठा मुकदमा दायर कर क्षुदिराम से गवाही देने के लिये आग्रह किया। क्षुदिराम की सदा सत्य में निष्ठा और परमात्मा पर निर्भर करने वाला मन इस प्रस्ताव से विद्रोही हो उठा। उनके झूठ गवाही नहीं देने के कारण बदला लेने के लिये कुचक्री रामानन्द राय ने उन पर एक झूठा मुकदमा दायर कर दिया और इस प्रकार उनका सर्वनाश कर दिया। इस आकस्मिक विपत्ति के कारण क्षुदिराम दुःखित

अवश्य हुये ; परन्तु हताश नहीं हुये। वे अपने गृह-देवता रघुवीर पर पूर्णतया निर्भर करते हुए उन्हीं के नि ेश की प्रतीक्षा करते रहे।

भक्तवत्सल भगवान ही ने क्षुदिराम को इस विकट अन्धकार में कल्याण की राह दर्शाई। उनके परम प्रिय मित्र कामारपुकुर निवासी सुखलाल गोस्वामी ने उनसे कामारपुकुर आने का सादर आग्रह किया। यह सन् १८१४ ई० की घटना है। उनचालिस वर्ष की आयु में अपने मित्र के इस अयाचित आह्वान को भगवान रघुवीर का आदेश मानकर क्षुदिराम अपनी धर्मपत्नी पुत्र रामकुमार और पुत्री कात्यायनी के साथ अपनी प्रिय जन्म-भूमि तथा पूर्वजों का आवास-गृह त्याग कर कामारपुकुर चले आये। कामारपुकुर में अपने मित्र द्वारा दी गई कुछ झोपड़ियों और १ बिघा १० कट्ठा धान की जमीन "लक्ष्मीजला" को अपना अवलम्बन बनाकर उन्होंने नये सिरे से जीवन-यापन आरम्भ किया। विपत्ति से इस प्रकार छुटकारा पाकर उन्होंने अपने हृदय में अनुभव किया कि उनके कुल-देवता भगवान रधुवीर की कृपा से ही यह अप्रत्याशित घटना संभव हो सकी।

इसी समय और एक घटना ने उनके विश्वास को और भी दृढ़ बना दिया। किसी एक काम से दूसरे गाँव से लौटते समय थके-माँदे क्षुदिराम सुनसान मैदान में एक वृक्ष की छाया में विश्राम कर रहे थे। मीठी-मीठी हवा के झकोरों में उन्हें नींद आ गयी और स्वप्न में उन्होंने देखा कि उनके आराध्य देव श्री रामचन्द्र बालक के वेश में उन्हें एक स्थान को दिखाते हुए कह रहे हैं, "मैं बहुत दिनों से यहाँ निराहार और निरादर पड़ा हुआ हूँ। मुझे अपने घर पर ले चलो। मेरी प्रबल इच्छा है कि तुम्हारी सेवा ग्रहण करूँ।" नींद टूटते ही शीघ्र उस निर्दिष्ट स्थान पर जाकर उन्होंने साँप के फन से आच्छादित एक सर्व सुलक्षण समन्वित शालगराम शिला को देखा। देखते ही "जय रघुवीर" करते हुए उल्लास

भरे मन से उसे उठा लिया। आश्चर्य की बात है कि क्षुदिरामको देखते ही साँप वहाँ से गायब हो गया। आनन्द से विव्हल क्षुदिराम जल्द घर लौटे। अभीष्ट देवी शीतला के बगल में इस रघुवीर शिला की स्थापना शास्त्र के अनुसार यथाविधि करने के बाद बड़ी श्रद्धा और प्रगाढ़ भक्ति के साथ नित्य इनकी पूजा करने लगे।

थोड़े ही दिनों में ऋषि सदृश क्षुदिराम और सरलता की मूर्ति चन्द्रादेवी ने अपनी उदारता, प्रेम और स्नेह से गाँव वालों के हृदय को हर लिया। क्षुदिराम धनी न होते हुए भी बड़े दानी थे। थके हुये राही, भिखमंगों और दरिद्रों के लिये उनके घर का दरवाजा सदा खुला रहता था।

इस तरह क्षुदिराम के छः साल कामारपुकर में बीते। देरे गाँव में रहते समय ही उनकी सहोदरा रामशीला देवी का विवाह छिलिमपुर गाँव के भागवत बन्ध्योपाध्याय के साथ हुआ था और उनके एक पुत्र रामचाँद और एक कन्या हेमांगिनी का जन्म हुआ था। क्षुदिराम हेमांगिनी को अपनी पुत्री जैसी मानते थे और उनका विवाह सिहड़ गाँव निवासी कृष्णचन्द्र मुखोपाध्याय से कर दिया था। उचित समय पर हेमांगिनी के चार पुत्र हुए, राघव, रामरतन, हृदयराम और राजाराम। इसी बीच क्षुदिराम के बड़े लड़के रामकुमार की आयु १६ वर्ष की हो गयी और वे पड़ोस के गाँव की पाठशाला में व्याकरण, साहित्य और स्मृति शास्त्र का अध्ययन समाप्त कर अब काम-काज द्वारा अर्थोपार्जन के योग्य हो गये। ये पिता के परिवार पोषण में नाना प्रकार से सहायता करने लगे।

अब क्षुदिराम अपने पुत्र और पुत्री के विवाह की बात सोचने लगे। कुछ ही दिनों में यह प्रश्न भी हल हो गया। उन दिनों की प्रथानुसार उन्होंने अपनी पुत्री की शादी आनूड़ गांव के केनाराम वन्द्योपाध्याय से

की और केनाराम की बहन से उनके पुत्र का विवाह हुआ। इस तरह गृहस्थी का प्रबन्ध कुछ संतोषजनक रूप से करने के बाद रामकुमार पर परिवार का सारा भार सौंप क्षुदिराम सन् १८२४ ई० में पैदल तीर्थाटन के लिये चल पड़े।

दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर तक बहुत से प्रसिद्ध तीर्थों के दर्शन के उपरान्त क्षुदिराम करीब एक साल बाद घर लौट आये। रामेश्वर तीर्थ से लौटने के बाद उनके दूसरे पुत्र का जन्म हुआ और इसी कारण उनका नाम रामेश्वर रखा गया।

रामकुमार स्मृति शास्त्रानुसार धर्म कार्य में विधा निर्देश व्यवस्था देकर और पूजा पाठ आदि से जितना अर्थोपार्जन करते थे, उससे खुदिराम के धार्मिक परिवार का अर्थाभाव बहुत कुछ दूर हो गया था। अब परिवार की चिन्ता से और भी अधिक छुटकारा पाकर क्षुदिराम को पूजा एवं शास्त्राध्ययन में और अधिक समय बिताने का अवसर प्राप्त हुआ। अभी उनकी आयु ६० वर्ष की थी, तो भी पैदल गयाजी जाने की प्रबल इच्छा उनके मन में उत्पन्न हुई।

सन् १८३५ ई० में वे पुनः तीर्थाटन के लिये चल पड़े और उन्होंने पहले पुण्य क्षेत्र वाराणसी में भगवान विश्वनाथ का दर्शन स्पर्शन पूजादि कार्य किये। तदनन्तर गयाजी में जाकर उन्होंने पितरों के उद्देश्य में भगवान गदाधारी (विष्णु) के चरण कमलों में पिण्डदान कर्म किया। आज के जीवन का अन्तिम कर्त्तव्य का सम्पादन कर निश्चिन्त हुये। भगवान भी क्षुदिराम की श्रद्धायुक्त पवित्र पूजा ग्रहण कर उनपर बहुत प्रसन्न हुये। गहरी रात में क्षुदिराम ने स्वप्न देखा, उज्ज्वल रश्मि से उद्भासित मन्दिर में श्री भगवान ज्योतिर्मय देह धारण कर दिव्य सिंहासन पर विराज रहे हैं। उनकी आराधना में उनके पूर्वज दोनों ओर करबद्ध खड़े हैं। सहसा उस परम पुरुष ने क्षुदिराम को स्नेहपूर्ण दृष्टि से

देखा और वे मधुर वचन बोले, "क्षुदिराम मैं तुम्हारी भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। पुत्र के रूप में तुम्हारे घर में आकर मैं तुम्हारी सेवा ग्रहण करूँगा।"

एक व एक नींद खुल गई और क्षुदिराम स्तम्भित और आनन्द से रोमांचित हो गये। इस अप्रत्याशित सौभाग्य की बात सोचते हुये उनके आनन्द के आंसू बह चले। वे सोचने लगे कि क्या यह भी संभव है कि मेरे जैसे नगण्य दरिद्र ब्राह्मण की कुटिया में तीनों लोक के प्रभु श्रीभगवान स्वयं पुत्र के रूप में प्रकट हो नर लीला करेंगे और सारे विश्व के लोग इस दिव्य लीला के दर्शनों से धन्य और कृतार्थ हो जायेंगे। गयाजी से लौटने पर क्षुदिराम को उनकी धर्मपरायणा पत्नी ने बताया कि जब वे (क्षुदिराम) अनुपस्थित थे, एक दिन गांव की धनी लोहारीन से अपनी कुटिया के निकट युगियों के शिव मंदिर के सामने वह बातें कर रही थीं कि अकस्मात् देवादिदेव महादेव के अंग से तरंग के आकार में एक दैवी रश्मि निर्गत होकर उनके शरीर में प्रविष्ट हुई। वह बेहोश हो गयी। तभी से चन्द्रा देवी को यह बोध होने लगा कि उन्हें गर्भ रह गया है। उसी समय से सदा अलौकिक दिव्य दृश्य भी उनके समक्ष उपस्थित होकर उन्हें कभी अचम्भित, कभी पुलकित और आनन्द से विह्वल बना देते थे। यह सब सुन कर क्षुदिराम के मन में सन्देह न रहा कि गयाजी में स्वप्न में जो परमपुरुष की वाणी उन्होंने सुनी थी, वह सत्य होने जा रही थी। भक्तप्रवर क्षुदिराम और शुद्ध चरित्र चन्द्रा देवी अपने अराध्य देव श्री रघुवीर के शरणागत होकर श्री भगवान के आविर्भाव की पवित्र घड़ी की प्रतीक्षा करने लगे।

ऋतुराज बसंत के आगमन से प्रकृति देवी दिव्य शोभा से सुशोभित हो रही है। सभी दिशाओं में आनन्द की लहरें उठ रही हैं। लता वृक्ष सुशोभित ग्राम्यदेवी का एकान्त शान्त निकेतन कोयल की मधुर

ध्वनि से गूँज उठा है। प्रस्फुटित पुष्पों और आम की मंजिरियों की सुगन्ध से गांव के घर-घर सुरभित हो रहे हैं मानों सारा जीव एवं जड़ जगत् किसी आकांक्षित पदार्थ की प्रतीक्षा में स्पन्दित और उल्लसित हो उठा है। क्रमशः शुभ फाल्गुन मास की शुक्ला द्वितीया तिथि आ गई—आज (बंगला १२४२ छः वीं फाल्गुन तदनुसार सन् १८३६ ई० १८ फरवरी) रात बीतने में आधा दंड बाकी है, इसी समय चन्द्रा देवी को प्रसव-व्यथा का अनुभव हुआ। लोहारिन धनी की सहायता से डेढ़-साल में चन्द्रा देवी गईं। प्रेम की जीवन्त मूर्ति प्रभु श्री रामकृष्ण ने सारे विश्व को आनन्दित कर युगकल्याण हेतु पवित्र ब्राह्म मुहूर्त्त में क्षुदिराम के घर जन्म लिया। साथ-साथ मंगल शंख ध्वनि ने क्षुदिराम के पवित्र गृह को मुखरित कर देव शिशु के आविर्भाव की घोषणा की। आश्चर्य है कि जन्म होने के साथ ही किसी के लखने के पहले बच्चा राख से भरे चुल्हे में जाकर भस्मविभूषित हो चुपचाप पड़ा रहा। धनी ने सुन्दर बच्चे को चुल्हे से सयत्न उठाकर राख को उसके सारे अंग से पोंछा। मानो आगे चल कर जिन्हें त्याग के चरम आदर्श की स्थापना द्वारा जगतवरेण्य होना था, वे संसार क्षेत्र में प्रवेश करते ही संसार की असारता के द्योतक भस्म से अपने शरीर को आच्छादित कर कर्मभूमि में अवतीर्ण हुये।

ज्योतिषियों ने जातक के जन्म लक्षणों की परीक्षा कर क्षुदिराम से कहा कि यह बच्चा भविष्य में एक नवीन सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन कर नारायण वंशोत्पन्न महान् पुरुष की ख्याति सारे संसार में पायेगा। गयाजी का स्वप्न सार्थक हुआ, इस भावना ने क्षुदिराम,को अपार आनन्दित किया।

जातकर्मादि के बाद बच्चे का राशि के अनुसार नाम पड़ा श्री शम्भु-चन्द्र, परन्तु गयाजी के उस दिव्य स्वप्न को स्मरण कर उसे गदाधर के नाम से पुकारने का निश्चय हुआ।

बाल्य एवं किशोर लीला

शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा जैसे दिन व दिन बढ़ते हुए बच्चे ने अपने माता पिता एवं गाँववालों पर स्नेह का साम्राज्य स्थापित किया। गाँव की स्त्रियाँ चंचल बालक के सुन्दर अंगों की शोभा और उसके मुख-सरोज के दिव्य सौंदर्य को दिन में कम से कम एक बार न देखने से व्याकुल हो उठती थीं। अशान्त शिशु मुख से सताये जाने पर "माँ माँ" पुकारता हुआ रोने लगता और घर का कामकाज छोड़ दौड़ती हुई चन्द्रादेवी आकर उसे गोद में लेकर उसके सुन्दर मुखड़े पर मुग्ध नयनों की टकटकी लगाये रहती। बच्चा माँ के गले से लग कर स्तनामृत पान से तृप्त हो चन्द्रा देवी के लखने के पहले ही नींद में सो जाता। आयु बढ़ने के साथ-साथ गदाधर का विचित्र व्यवहार मधुर से मधुर होता गया। पिता क्षुदिराम भगवान रघुवीर के लिये पुष्प माल बनाकर रखे हुये हैं। बालक गदाधर उसी माला को अपने माथे और मस्तक पर धारण कर अपूर्व सौंदर्य से सुशोभित हुआ। यह दृश्य देख कर क्षुदिराम के हृदय की स्नेह सरिता सहस्र धाराओं में उमड़ने लगी। आँखों में आनन्द की यमुना बहने लगी। इस तरह के आनन्द, आवेग और उत्साह में गदाधर के माता पिता के दिन बीतने लगे।

बालक की शिक्षा के लिये क्षुदिराम ने उसे गाँव की पाठशाला में भेजा। परन्तु बालक पाठशाला की पढ़ाई में मन न लगाकर अपने संगी साथियों के साथ खेलने में मग्न रहता था। उसकी अपूर्व प्रतिभा दूसरी दिशा में स्फूरित होने लगी। अपनी प्रखर स्मरणशक्ति के सहारे बालक बहुत शीघ्र ही देव देवियों के स्तोत्र, पौराणिक कथायें और रामायण, महाभारतादि धर्म ग्रन्थों की विचित्र कहानियाँ आदि सुनते ही

उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता था। भगवत प्रसंग में उसका प्रेम, चित्रांकन में असाधारण प्रतिभा, ग्रामीण नाटकों के खेल की नकल करने में कुशलता, भगवद्लीला, कीर्तन में गंभीर तन्मयता एवं अनुपम नृत्य तथा भावों की व्यंजना देखकर गाँववाले एक अलौकिक आनन्द रस में सराबोर हो जाते। विचित्रता से शून्य ग्रामीण जीवन में ऐसा दृश्य भाव्य का अभिनय कितना माधुर्य भरा होता है, यह सहज ही अनुभव किया जा सकता है।

बालक ने सातवीं वर्ष गांठ पार की है। इसी थोड़ी-सी आयु में उसकी भाव जनित तन्मयता इतनी बढ़ गयी थी कि किसी रमणीय प्राकृतिक दृश्य को देखते ही उसका शुद्ध शुभ्र मन सीमा के राज्य से अनन्त असीम में लीन हो जाता था। एक दिन मैदान में साथीं संगियों के साथ घूमते हुये नवीन घनश्याम मेघ की पृष्ठभूमि में श्वेत वलाका पक्षियों की उड़ती हुयी पंक्तियों को देखते ही बालक का भावुक मन अनन्त के राज्य में चला गया। बाह्य बोधरहित शरीर भूमि पर पड़ा रहा। पड़ोस के अनुड़ गाँव में विशालाक्षी देवी के दर्शन के लिये गाँव वालों के संग जाते समय मधुर कंठ से गाते-गाते इसी तरह भाव के आवेग से आठ साल की आयु में बालक संज्ञाहीन हो गया था। इनके सिवा और एक घटना से गदाधर के भावराज्य के उच्चस्तर पर पहुँचने की क्षमता का प्रमाण मिलता है। गाँव में शिवजी की महिमा के विषय पर नाटक खेला जायगा। जिनको शिव का अभिनय करना था वे अचानक अस्वस्थ हो गये। गदाधर को शिव के साज में सज्जित कर रंगमंच पर लाया गया। गदाधर की जटामंडित विभूति से रमा हुआ शुद्ध तेजस्वी मुखमंडल धीर सुन्दर चाल, अलौकिक एकटक अन्तर्मुखीन दृष्टि देख कर निर्वाक् दर्शक समाज आनन्द और विस्मय से पुलकित हो उठा। इधर शिव के ध्यान में लीन भाव भरे नेत्रों की

शान्त दृष्टि सहित गदाधर बाह्यज्ञान रहित दशा में चुपचाप खड़े हैं। उस रात में बहुत प्रयास करने पर भी बालक की ध्यान समाधि न टूटी। इसे समझने में कठिनाई नहीं होती थी कि आगे चल कर जो अति उच्च भाव भूमि में क्षण-क्षण पहुँच जाते थे, बचपन की यह भाव तन्मयता उनके इस स्वाभाविक दिव्य भाव का ही द्योतक थी।

भागवत वन्द्योपाध्याय के साथ क्षुदिराम की बहन रामशीला के विवाह का उल्लेख इसके पूर्व किया गया है। उनके पुत्र रामचाँद काम काज के लिये मेदिनीपुर शहर में यद्यपि रहा करते थे, तो भी प्रति वर्ष अपने गाँव छिलिमपुर में बड़े समारोह के साथ दुर्गापूजा किया करते थे। सन् १८५६ ई० में और सालों जैसा क्षुदिराम दुर्गापूजा के अवसर पर अपने भगना रामचाँद द्वारा निमंत्रित होकर छिलिमपुर गये। परन्तु वहाँ पहुँचते ही संग्रहणी रोग से पीड़ित हो विजया दशमी के दिन भगवान रघुवीर का नाम लेते हुये स्वर्ग सिधारे। इस अचानक दुर्घटना से क्षुदिराम के परिवार के लोग शोक से विकल हो गये। गदाधर भी पिता के स्नेह से सहसा वंचित हो अत्यन्त व्याकुल हो उठा। एक अन्यमनस्कता के भाव ने उसके मन को चिन्ताग्रस्त कर लिया। दैवी शक्ति से सम्पन्न बालक के लिये इसी उम्र में संसार की अनित्यता का बोध होने में विलम्ब न हुआ। अभी से बालक चिन्तन में निमग्न और अकेला रहना पसन्द करने लगा। कभी गाँव के उत्तर पश्चिम और श्मशान, भूमि की खाई और कभी मानिक राजा के आम के बड़े बागीचे के सुनसान निर्जन स्थान में बालक उचाट भाव में घूमता रहता। फिर कभी गाँव के अग्नि कोण में जगन्नाथधाम जाने की राह पर विश्रामगृह में धूनी के सामने बैठे हुये जटामंडित दिगम्बर नागा साधुओं से मिल कर उनकी सेवा में सहायता करते हुये उनसे घनिष्टता बढ़ाते रहता। माता चन्द्रमनि साधु संन्यासियों के आशीर्वाद से गदाधर का

बहुत कल्याण होगा यह सोचकर उसके इस साधुसंग से प्रसन्न ही होती थी।

परन्तु जिस दिन घुँघरूले बाल, कानों में कुण्डल और ललाट पर नवीन चन्द्रमा जैसा उज्ज्वल तिलक धारण कर केवल कोपीन मात्र पहने हुये माता के सम्मुख बालक उपस्थित हो बोला, "देखो माँ, साधुओं ने मुझे कैसा सजाया है!" उस दिन एक अनजानी आशंका से चन्द्रादेवी का हृदय काँप उठा। ऐसा तो नहीं होगा कि ये साधु मेरे गदाधर को फुसलाकर अपने साथ लेते जायेंगे! इसी चिन्ता में अविरल आँसुओं की धाराओं से उनका वक्षस्थल सिक्त हो चला। बुद्धिमान बालक के लिये इसका कारण समझने में विलम्ब नहीं हुआ। माँ की आशङ्का दूर करने के लिये उसने पान्थशाला में आना-जाना बन्द कर दिया। इधर साधुओंने सुन्दर बालक को कई दिन नहीं देखने पर चन्द्रादेवी के घर आकर सारी बातें जान लीं। उन्होंने माता को आश्वासन दिया कि बालक को अपने साथ ले जाने का कोई भी विचार उनके मन में नहीं है। जननी को भी साधुओं के आश्वासन से सन्तोष प्राप्त हुआ और उन्होंने पहले जैसी साधुओं के साथ मिलने की अनुमति अपने पुत्र को दे दी।

बालक गदाधर की आयु ९ वर्ष की हो रही थी। समुचित अवसर आया हुआ जानकर रामकुमार उसके उपनयन संस्कार की व्यवस्था करने लगे। कुल-प्रथानुसार उपनयन के उपरान्त अपनी माता से ही सबसे पहले भिक्षा ग्रहण करना शास्त्र-विधान माना जाता है, परन्तु लोहारिन धनी के सच्चे स्नेह से मुग्ध बालक ने उसकी इच्छा की पूर्त्ति के हेतु उससे प्रतिज्ञा की थी कि वह उपनयन के बाद उसे ही भिक्षा-माता बनावेगा अर्थात् पहली भिक्षा उसीके हाथों से लेगा। समय आ गया जानकर गदाधर ने इस विषय में अपने बड़े भाई से अनुमति माँगी।

बालक के इस प्रस्ताव से आश्चर्यचकित रामकुमार के बहुत आपत्ति करते रहने पर भी सत्यनिष्ठ बालक गदाधर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने की आन पर अटल रहा। अन्त तक स्वार्थरहित प्रेम और सत्य की विजय हुई। रामकुमार ने अपने पिता के मित्र श्रीमान् धर्मदास लाहा से राय लेकर बालक की इच्छा पूरी की।

इसी समय की और दो-एक घटनायें उल्लेखनीय हैं। जमींदार लाहा बाबुओं के यहाँ किसी पूजादि के अवसर पर पण्डितों की सभा बुलाई गयी। सभा में किसी एक कठिन प्रश्न का समाधान पण्डितों से न हो रहा था। सभा में श्रोताओं में गदाधर उपस्थित था। उसने अपने एक परिचित पण्डित को प्रश्न को हल करने का सिद्धान्त समझा दिया। बालक का समाधान यथार्थतः सही देखकर पंडितों के आश्चर्य की सीमा न रही। सभी गदाधर की बुद्धिमत्ता और प्रत्युत्पन्नमतित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। बालक ने अपने लावण्य भरे सुगठित आनन्द-मूर्त्ति शरीर, शुद्ध सरलता एवं सर्वोपरि एक अजेय आकर्षक शक्ति के सहारे कितनों के हृदय में उनके अनजाने ही देवता के स्थान पर अपना आसन जमा लिया था। गाँव के बूढ़े शंख की चूड़ी बनाने-वाले श्रीनिवास को गदाधर के प्रति स्नेह और श्रद्धा की भावना थी। एक दिन वह बैठा-बैठा अपने देवता के लिये माला बना रहा था, हठात् गदाधर उसके सामने आ खड़ा हुआ। श्रीनिवास उसे देखते हुये एक अज्ञात प्रेरणा से पास ही की दूकान से मिठाइयाँ खरीदकर लाया और प्रेम-भाव भरे हृदय से अपने मन की आकांक्षा पूरी कर बालक को पुष्प माल्य से सजाकर अपने हाथों से फल, मिठाई आदि भोजन कराकर गद्‌गद् स्वर से बोला, "ऐ मेरे लाल गदाई, मैं ज्ञानहीन अत्यन्त दीन बंगाली हूँ। मेरे इस संसार से चले जाने का दिन भी बहुत निकट आ रहा है। तुम विश्व के लिये भविष्य में कितने कार्य करोगे, यह देखने

का सौभाग्य मुझे न होगा। तुमसे इस दीन दरिद्र की यही विनती है कि इसे तुम कभी न भूलना।" धन्य श्रीनिवास ऋषि एवं मुनिगण कोटि कल्पों की साधना से भी जिनके दर्शन नहीं पाते, तुम अपने सच्चे और शुद्ध प्रेम से नर-रूपधारी श्री भगवान के सम्यक स्वरूप से अवगत होकर उनके पवित्र दर्शन और स्पर्श से आज धन्य हो गये।

क्रमशः गदाधर १२ साल के हो गये। उनकी छोटी बहन सर्वमंगला और मँझले भाई दोनों की विवाह योग्य उम्र होने के कारण रामकुमार ने उनके विवाह पास ही के गौरहाटी गाँव में कर दिये। इसी समय रामकुमार के पारिवारिक जीवन में एक बड़ा संकट आ गया। बड़े सुन्दर एक पुत्र के जन्म के अवसर पर प्रसूतिका-गृह ही में उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। साथ-साथ अचानक रामकुमार का अर्थागम भी घटने लगा। और कोई साधन नहीं रहने के कारण वे जीविका की खोज में कलकत्ते आये और झामापुकुर गली में एक टोल की स्थापना कर अध्यापन और पूजापाठादि सामाजिक कार्यों से अर्थोपार्जन का प्रयास करने लगे।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अत्यन्त सुन्दर और अनेक गुणों से युक्त होने के कारण गदाधर सभी ग्रामीणों के आनन्द का साधन था। उसकी सद्भावना, शक्ति और अपने को दूसरों का प्रिय बनाने की क्षमता की एक घटना इस प्रकार है :—गाँव के दुर्गादास पाईन पर्दा-प्रथा के कट्टर समर्थक थे और पुरुष और स्त्रियों के स्वच्छन्द मेल-मिलाप को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। उनके परिवार का कड़ा पर्दा उनके बड़े गर्व का विषय था। दुर्गादास ने कभी दम्भ के साथ गदाधर से कहा था कि मेरे परिवार का अन्तःपुर ऐसा सुरक्षित है कि बाहरी किसी व्यक्ति के लिये वहाँ प्रवेश करना या मेरे वहाँ की कोई बात जानना, असम्भव है।

दम्भी के गर्व को चूर करने के लिये एक दिन सन्ध्या समय गदाधर ने जुलाहिन के भेष में बाजार की ओर से दुर्गादास के घर पर आकर रात भर के लिये शरण लेनी चाही। एक स्त्री को विपत्ति की दशा में देखकर दुर्गादास ने उसे अन्तःपुर में भेज दिया। गदाधर अन्दर जाकर घर की हरेक स्त्री का व्यवहार, चाल-चलन आदि बड़े ध्यान से देखने और उनकी बातचीत सुनने लगे। रात कुछ अधिक हो रही थी और रामेश्वर गदाधर को खोजते हुये दुर्गादास के घर के पास आकर उनको ऊँची आवाज से पुकार रहे थे। अन्दर से गदाधर उनकी पुकार का जवाब देते हुये तेज कदम से बाहर आ निकला। दुर्गादास का गर्व चूर-चूर हो गया। पहले तो दुर्गादास कुछ रंज अवश्य हुये, परन्तु अबसे अपने परिवार की स्त्रियों को गदाधर का कीर्तन, पाठ इत्यादि सुनने से मना नहीं करते थे।

गदाधर अब चौदह वर्ष का हो रहा है। उसका वैराग्य भरा मन कभी-कभी कल्पना के पंखों के सहारे वस्तुजगत् से बहुत दूर विचरण करने लगा। उसके शुद्ध और निष्काम मानस-पटल पर कभी पहाड़ी कन्दरा में योगासन में बैठे हुए ध्यान में लीन गम्भीर भावों से परिपूर्ण योगी की मूर्त्ति, कभी स्वच्छन्द भ्रमण करनेवाले गैरिक बेष में ज्ञानलोक से उज्ज्वल संन्यासी की दिव्य आकृति और कभी भाव से विह्वल प्रेमी भक्त के पवित्र आनन्द का उच्छ्वास स्पष्ट प्रकट होते और उसके हृदय में अनन्त का आह्वान सदा गूँजता रहता था। क्रमशः जिस विद्या से वित्तोपार्जन होता है, उसका उस विषयसे विमुक्त मन और भी उदासीन हो चला। अब गया, विष्णु आदि बचपन के साथियों के संग मानिक राजा के आम के बगीचे में श्रीकृष्ण और श्रीरामचन्द्र सम्बन्धी नाटकों को खेलने में उसका समय अधिकाधिक बीत जाया करता था। केवल यही नहीं, ग्रामीण स्त्रियों के आग्रह से दूसरे गाँवों में भी नाट्य-कला

में कुशलता का प्रदर्शन किया करता था। बालक गदाधर श्रीकृष्ण के वृन्दावन बिहारी चरित्र के अभिनय में सुन्दर केशों के बीच मोर का पंख लगा पीताम्बर धारण कर होठों पर मन्द मुस्कान सहित त्रिभंग ठाट में हाथ में वंशी लिये जब खड़ा हो जाता है, तब उसकी सौन्दर्य सुधा से सभी का मन आनन्दित हो जाता और उसके मनमोहक अभिनय को देखकर इस संसार का दुःख-सुख, हँसना-रोना भूलकर क्षणभर के लिये श्रीकृष्ण के साथ वृन्दावन में विचरण करने लगता। यह कहना अनावश्यक ही है कि इस तरह नाटक और कीर्त्तन में मशगूल हो जाने के कारण पाठशाला में जाना और पढ़ना एकदम ही बन्द हो गया।

रामकुमार ने जीविकार्जन के लिये कलकत्ते की झामापुकुर गली में पाठशाला खोल रखी थी। वहाँ से कभी-कभी गाँव पर जब आते तो अपने कनिष्ठ (गदाधर) की पढ़ने में अत्यधिक उदासीनता देखकर उन्हें वड़ी चिन्ता हो जाती। पाठशाला में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ रही थी और घर का काम-काज भी बढ़ता जा रहा था। अब उनके लिये अकेले हाथ सभी कामों को अच्छी तरह से करना कठिन हो रहा था। इसलिये उन्होंने विचारा कि गदाधर को कलकत्ते लाने से उसकी शिक्षा उनकी अपनी देखरेख में होगी और वह पूजा-पाठ और घर के काम में उन्हें सहायता दे सकेगा। गदाधर ने अपने श्रद्धेय बड़े भाई के प्रस्ताव में सानन्द सहमति दी। सतरह साल का किशोर गदाधर अपनी स्नेहमयी माँ के चरणों में प्रणाम कर और भगवान रघुवीर का आशीर्वाद अपने मस्तक पर धारण कर शुभ घड़ी में कलकत्ते के लिये रवाना हुआ। मँझले भाई रामेश्वर ही अब गाँव में रहे और गृहस्थी का काम और माता की सेवा में दत्तचित्त होकर लग गये।



दक्षिणेश्वर में भवतारिणी के मन्दिर में

विधाता के विचित्र विधान से गदाधर का कर्मक्षेत्र गाँव के शान्त वातावरण से हट कर कर्म कोलाहलपूर्ण और जन बहुल कलकत्ता नगर में आ गया। इस पटपरिवर्त्तन के पीछे परमेश्वर का कौन-सा महान उद्देश्य छिपा था, यह स्थूल बुद्धि से मानव नहीं भी समझें तोभी इसका सच्चा स्वरूप प्रकट होने में विलम्ब न हुआ। अनेक सद्गुणों के आधार बालक गदाधर को कुछ सम्पन्न परिवार में दैनिक पूजापाठ का कार्य मिला और उसने अपने बड़े भाई से पढ़ना आरम्भ किया। परन्तु यहाँ भी गदाधर संकोच रहित बच्चे, बूढ़े से मिलकर उन्हें पौराणिक कहानियाँ एवं भजन सुनाता और इस तरह शीघ्र ही वह सबों का बड़ा प्रिय हो गया। क्रमशः पहले जैसी फिर उसे विद्यार्जन से अरुचि हो चली। अपने छोटे भाई की इस उदासीनता पर रामकुमार ने गदाधर को फटकारा तब गदाधर ने कहा, "मैं तेल, नून लकड़ी वाली क्रिया नहीं सीखना चाहता। मैं ऐसी विद्या सीखना चाहता हूँ कि जिससे ज्ञान हो और मनुष्य यथार्थ में धन्य हो जाय।" इस अप्रत्याशित उत्तर से रामकुमार चकित हो गये। अन्ततोगत्वा रामकुमार भगवान् रघुवीर पर पूर्ण निर्भर कर चुपचाप अपना कर्त्तव्य करते चले और दुखी मन से अच्छे दिनों की राह देखते रहे।

प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ बराबर लड़ते रहने के कारण रामकुमार जब श्रान्त और अवसन्न हो रहे थे, उसी समय एक असाधारण उपाय से बहुत दूर तक विस्तृत एक कल्याण का पथ उनके सामने उन्मुक्त हो गया। साथ-साथ बालक गदाधर के लिये भी आध्यात्मिक जीवन में चरम विकास का पथ मिल गया।

उस समय कलकत्ते के जानबाजार महल्ले में माहिष्यकुलोत्पन्न अनेक सद्गुणों से पूर्ण रानी रासमनि रहती थीं। उनके दयादाक्षिण्य, बुद्धिमत्ता,

तेज और शौर्य आदि की ख्याति के कारण बंगाल प्रान्त में सभी के मन में उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और सम्मान की भावना थी। भक्तिमती रानी ने सन् १८४७ ई० में पुण्य सलिला गंगा के पूर्वी किनारे दक्षिणेश्वर नामक स्थान में कूर्मपृष्ठ की आकृति की एक विस्तृत भूमि खरीद कर वहाँ श्री श्री भवतारिणी और राधागोविन्दजी के मन्दिर तथा देवादिदेव महादेव के द्वादश मन्दिरों का निर्माण कराया। ३१वीं मई सन् १८५५ ई० (बंगाल १८वीं जेठ १२६२) बृहस्पतिवार को पवित्र स्नानयात्रा के अवसर पर मन्दिर स्थापना का शुभ दिन निर्धारित हुआ। परन्तु उस समय की प्रचलित सामाजिक प्रथा के कारण एक विकट बाधा खड़ी हो गयी। शूद्रवंशीय रानी द्वारा प्रतिष्ठित देवी को अन्नभोग देना पड़ेगा, यह जानकर कोई भी शुद्ध ब्राह्मण इस मन्दिर प्रतिष्ठा में भाग लेने में सहमत नहीं हुआ। आज उनके (रानी के) सारे जीवन की साधना और संकल्प व्यर्थ होने जा रहे हैं। अनन्योपाय होकर रानी अपनी अभीष्ट देवी के चरणों में अपनी व्याकुल प्रार्थनायें समर्पण करती हुई आँसू बहाने लगीं। शीघ्र ही घोर अंधकार में आलोक का आभास देखकर रानी को अपार आनन्द हुआ। झामापुकुर पाठशाला के उदार और शास्त्रज्ञ पंडित रामकुमार चट्टोपाध्याय ने व्यवस्था की कि मन्दिर प्रतिष्ठा के पूर्व यदि देवालय को, किसी ब्राह्मण को दान कर दिया जाय और उस ब्राह्मण द्वारा यदि यथाविहित प्रतिष्ठा कर्म सम्पन्न हो, तो शास्त्रीय नियम और सामाजिक प्रथा दोनों की मर्यादा अक्षुण्ण रहेगी एवं ब्राह्मणादि उच्च वर्ग के लिये इस मन्दिर में प्रसाद ग्रहण करने में भी कोई बाधा नहीं रहेगी।

रानी ने दो लाख छब्बिस हजार रुपयों की देवोतर जायदाद समेत देवालय को अपने गुरुवंश के ब्राह्मणों को दान देकर स्वयं देव-सेवा की प्रबन्धक मात्र बनी रही और देवी भक्त रामकुमार से ही मन्दिर एवं

मूर्त्ति प्रतिष्ठा का कार्य का प्रधान पुरोहित बनने का श्रद्धासहित आग्रह किया। रामकुमार ने भी तत्काल इस कार्य को स्वीकार किया एवं राधागोविन्दजी के पुजारी के पद पर सिहड़ गांव के क्षेत्रनाथ चट्टोपाध्याय नियुक्त हुये।

मन्दिर प्रतिष्ठा के दिन सूर्योदय के पूर्व ही दक्षिणेश्वर ग्राम सौ शंखों की ध्वनि से मुखरित हो उठा। बहुत दूर देश, कान्यकुब्ज और वाराणसी, श्री हट्ट एवं चटगाँव उड़िस्या तथा नवद्वीप आदि स्थानों से आये हुये ब्राह्मणों के वेदगान, यज्ञकर्म में लगे हुये श्रोताओं के मन्त्रपाठ और जगह-जगह पर शास्त्रज्ञों के शास्त्रार्थ इत्यादि से उद्यान भवन आज पुण्यतीर्थ बन गया। श्याम, श्यामा और शिव की समवेत प्रतिष्ठा होगी। रानी के पवित्र मन्दिर प्रांगण में आज शाक्त एवं शैव वैष्णवों की समन्वित सभा है। बड़े समारोह के साथ मन्दिर प्रतिष्ठा कार्य सुसम्पन्न हुआ। कालक्रम से गदाधर भी यहाँ आकर अपने अग्रज के साथ रहने लगे। कहना अनावश्यक है कि आज से उनके जीवन में* एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ।

इस घटना के कुछ ही दिनों के बाद ठाकुर की फुफरी बहन हेमांगिनी देवी के पुत्र श्री हृदयराम मुखोपाध्याय जीविका की खोज में दक्षिणेश्वर के देवालय में आये। ठाकुर श्री रामकृष्ण को एक साथी मिल

---

* अब से हम गदाधर के लिये श्रीरामकृष्ण या ठाकुर नाम का व्यवहार करेंगे। कोई-कोई कहते हैं कि रानी रासमणि के दामाद श्री मथुरानाथ विश्वास ने गदाधर को श्रीरामकृष्ण नाम दिया था। फिर दूसरों का कहना है कि संन्यास ग्रहण करते समय श्रीमत् स्वामी तोतापुरीजी ने गदाधर को श्रीरामकृष्ण नाम से भूषित किया था। हमारी राय में यह दूसरा मत ही समुचित प्रतीत होता है।

गया और वे निश्चिन्त मन से सुन्दर देवोद्यान में जीवन बिताने लगे। रानी के दाहिने हाथ श्रीमान् मथुरा नाथ विश्वास ने ठाकुर की सौम्य मूर्त्ति एवं भगवद्भक्ति से प्रभावित हो, उन्हें देवी भवतारिणी का श्रृङ्गार करने का काम दिया और हृदयराम को उन्हें सहायता करने में नियुक्त किया।

इसी तरह कुछ दिन बीते। आज जन्माष्टमी के अवसर पर विशेष उत्सव के लिये अनेक आयोजन हुये हैं, आनन्द और भजन गान से मन्दिर मानों नन्द का आवास हो गया है। पूजा समाप्त होने पर राधा-गोविन्दजी के पुजारी क्षेत्रनाथ गोविन्दजी को शयनकक्ष में ले जाते समय पैर फिसल कर गिर गये और विग्रह का एक चरण टूट गया। आश्चर्य की बात है ठाकुर श्री रामकृष्ण ने टूटा हुआ पैर जोड़ दिया और उनके निर्देश के अनुसार उसी मूर्त्ति की यथाविधि पूजा होती रही। मूर्त्ति टूटने के अपराध में क्षेत्रनाथ नौकरी से बरखास्त हो गये और उनकी जगह पर ठाकुर रामकृष्ण राधागोविन्दजी के पुजारी के पद पर लिये गये।

पूजा की इस सुविधा को पाकर ठाकुर का वैराग्यमय मन बहुत शीघ्र ही गम्भीर ध्यान में लीन हो जाने लगा। पूजा करते समय ठाकुर के तेजोमय शरीर को देखने से मन में यह भावना होती थी कि स्वयं ब्रह्मण्य-देव पूजा पर बैठे हैं। रामकुमार अपने कनिष्ठ की निष्ठा, भक्ति एवं श्रद्धा से प्रसन्न हुये और उन्हें श्री श्री कालिका माता और अन्यान्य देव-देवियों का शास्त्र विहित पूजादि सीखाने लगे। देवी पूजन में शक्ति-दीक्षा की बड़ी ही आवश्यकता होती है। यह जानकर ठाकुर ने कलकत्ता निवासी शक्ति साधक श्री केनाराम भट्टाचार्य से शक्ति मंत्र की दीक्षा ली। दीक्षा-ग्रहण के उपरान्त मथुरा नाथ ने श्री रामकृष्ण को ही उनके अग्रज की जगह स्थायी रूप से भवतारिणी की पूजा के लिये नियुक्त किया।

वृद्ध रामकुमार शारीरिक दुर्बलता के कारण बिना परिश्रम होनेवाली राधागोविन्दजी की सेवा का कार्य लेकर अब क्रमशः सभी प्रकार के कर्म से अवसर प्राप्त करने की तैयारी करने लगे। इसी समय जन्मभूमि के दर्शन के लिये भी वे व्याकुल हो उठे। इसलिये वे भगिना हृदयराम पर राधागोविन्दजी की पूजा का भार सौंप कर गाँव जाने की तैयारी करने लगे। परन्तु किसी कार्यवश कुछ दिनों के लिये वे श्यामनगर में मुलीजोड़ गाँव में गये। वहीं सन् १८५६ ई० में हठात् उनकी मृत्यु हो गई।

अपने अग्रज की आकस्मिक मृत्यु से ठाकुर के हृदय में वैराग्य की आग दूनी जल उठी। उनका अधिकतर समय भगवद् ध्यान, पूजा-प्रार्थना और राम प्रसाद, कमलाकान्त आदि प्रमुख भक्तों के भजन-गान में बीतने लगा। पूजा के उपरान्त पास के घने जंगल में आंवले के वृक्ष के नीचे—एवं वस्त्र देह से उतारकर प्रगाढ़ ध्यान में तन्मय हो जाते। कभी देवी की पूजा के आसन पर बैठ अपने मस्तक पर पुष्पादि अर्पण कर एक-दो घंटे जड़वत् बैठे रहते। और कभी सुगन्धित फूलों की मनोहर माला तथा जगज्जननो को अपने मन की भावना के अनुसार सुसज्जित करते।

क्रमशः मनोवेग और भक्ति की उमंग ने उनकी सीमा तोड़ दी। मां पर अपने प्राणों को न्यौछावर करने वाले साधक की हृदयविदारक क्रन्दन ध्वनि से दक्षिणेश्वर का वातावरण गूँजने लगा। अविरल आँसुओं की धाराओं से मातृचरण सिक्त होने लगे। सन्ध्या समय जब शंख एवं घण्टा की ध्वनि से रात्रि का आगमन घोषित होता, तब और एक दिन व्यर्थ हुआ जानकर उनकी व्याकुलता सौगुनी बढ़ जाती। वे आकुल स्वर में कहते। "माँ आयु को घटाकर और एक दिन बीत गया। हे जननी! तेरे दर्शन तो न हुये। कितना रोता हूं कितनी विनती करता हूं। माँ, तेरी कृपा क्या न होगी?" ऐसा कहते-कहते असह्य व्याकुलता से भूमि पर लोटते हुये मुँह रगड़ने से उनका मुँह क्षत-

विक्षत हो जाता। एक दिन वियोग के कारण तीव्र मानसिक व्यथा, सहने में असमर्थ हो मातृचरणों में आत्म बलिदान के उद्देश्य से मन्दिर की दीवार से लटकती हुयी तलवार को लेने के लिये पागल की नाईं दौड़े। सहसा जगन्माता के दिव्य दर्शन पा संज्ञाहीन होकर गिर गये। इसी भाव-तन्मयता में उन्होंने देखा "घर द्वार देव मंदिर, लतावृक्ष, उद्यान, जीव जन्तुओं का कलरव क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होता हुआ महाशून्य में विलीन हो रहा है और उस शून्यता को पूर्ण करता हुआ एक अनन्त चेतन ज्योति समुद्र विशाल तरंगों में उमड़ता और आलोक रश्मियों में उमंग उठाता हुआ उन पर टकरा रहा है। जहाँ तक दृष्टि दौड़ सकती है कहीं कुछ नहीं है—है केवल पुलक से दीप्त चित् शक्ति विलसित (शोभित) ज्योति समुद्र का अगाध, अपार विस्तार और उस अपूर्व आलोक सिन्धु के बीच एक वराभयकरा, असीम करुणा के साथ अधरों पर मन्त्र मुस्कान धारण की हुई—आनन्दमयी मूर्त्ति* इस दिव्य दर्शन के बाद जगदम्बा के निरन्तर दर्शनों की तीव्र कामना ने उन्हें और भी व्याकुल बना दिया।

भावतन्मयता के कारण ठाकुर के लिये यथाविधि बंधी पूजा करना करीब-करीब असंभव हो गया। मन्दिर के कर्मचारियों ने पूजा के समय में उनका शास्त्र विरुद्ध आचरण देखकर मथुरा नाथ को सूचना दी। मथुरा नाथ एक दिन हठात् पूजा के अवसर पर आये, मन्दिर में जाकर मातृभाव में विभोर आत्म विस्मृत ठाकुर की जगन्माता के प्रति व्यग्र प्रार्थना सुनकर एवं जननी का मुखमण्डल अपार्थिव ज्योति से उद्भासित देखकर आश्चर्य से विह्वल हो गये और अपने हृदय के अन्तस्थल में उन्हें अनुभव हुआ कि माँ सचमुच में प्रेमिक ठाकुर की पूजा से प्रसन्न हो जाग्रत हुई है। मन्दिर की प्रतिष्ठा सार्थक हुई है। मथुरा नाथ से

* दिवंगत देवेन्द्रनाथ वसु विरचित "परमहंस देव" पुस्तक से उद्धरण।

सारी बातें सुनकर भक्त रानी एक दिन देवालय में आई। पूजा समाप्त होने पर रानी के आग्रह से ठाकुर आवेग भरे मधुर स्वर से उन्हें भजन सुनाने लगे। आकुल भक्त हृदय का निविड़ प्रेम आज संगीत की प्रत्येक मूर्च्छना में तरंगायित हो उठा। स्निग्ध भाव प्रवाह से मन्दिर प्लावित हो रहा है—भक्त साधक प्रेम के आवेश में अपने को भूल रहा है। हठात् वह मधुर स्वर स्तब्ध हो गया। रानी के कोमल शरीर पर हाथ से अघात कर बड़ी आवाज में ठाकुर बोले, "केवल वही चिन्ता, यहाँ भी वही चिन्ता ?" रानी भजन सुनते समय एक मुकदमें के बारे में सोचती हुयी अन्यमनस्क हो गई थी। यह जानकर अपने आचरणके लिये स्वयं लज्जित और अनुतप्त हो गई। उन्होंने भक्त साधक के पवित्र हाथों से इस दण्ड को करुणा का स्पर्श मानकर नतमस्तक हो इसे स्वीकार किया और इसके लिये पूजारीजी पर मन्दिर के कर्मचारियों द्वारा किसी प्रकार का अत्याचार न हो, इसलिये एक आदेश भी जारी किया। जो कुछ हो, इस घटना के बाद मथुरा नाथ ने ठाकुर वायु रोग से पीड़ित हैं, समझकर उनके लिये कलकत्ते के उन दिनों के प्रमुख कविराज श्री गंगा प्रसाद सेन की चिकित्सा का प्रबंध किया। परन्तु इस चिकित्सा से भी ठाकुर की दिव्योन्माद अवस्था कुछ भी नहीं बदली।

श्री रामकृष्ण की सेवा में मथुरा नाथ

दिन ब दिन जैसे-जैसे मथुरा नाथ ठाकुर के घनिष्ट संसर्ग में आने लगे, वे उनकी अहेतुक कृपा और आध्यात्मिक शक्ति से मोहित हो अपने को उनके चरणों में अर्पित करने लगे। मथुरानाथ के चरित्र में दो प्रायः विरोधी भावों का विचित्र समावेश देखा जाता है। एक ओर जैसे वे अंग्रेजी शिक्षा में शिक्षित युक्तिवादी तेजस्वी और तर्क करने वाले थे। दूसरी ओर वैसे ही धीर, गम्भीर, ईश्वर में विश्वास रखनेवाले, दानी और

भक्त थे। बल्कि वैसा स्वभाव वाले ठाकुर अपनी सब उपलब्धियां और हृदय की गूढ़ बातें मथुरा नाथ से बिना कुछ छिपाये कहने लगे। मथुरा नाथ भी भक्त होते गये। परमेश्वर की कृपा से मथुर को इस अपूर्व साधक के शरीर मन के आधार पर विभिन्न दर्शनों का भी सौभाग्य हुआ था।

एक दिन पंचवटी के पास "बाबुओं की कोठी" में मथुरानाथ अकेले यों ही बैठे हुये थे। सहसा उन्होंने देखा ठाकुर अपने कमरे के उत्तर पश्चिम के बड़े बरामदे में भावाविष्ट हो अपने ही मन से टहल रहे हैं। टहलते समय एक बार व्याघ्रचर्मधारी जटाजूट-मंडित साक्षात देवादिदेव महादेव जैसा प्रकट हो रहे हैं और एक क्षण बाद मन्दिर में प्रतिष्ठित आनन्दमयी जगज्जननीका रूप धारण कर रहे हैं। बारंबार इस दिव्य दर्शन से विह्वल हो मथुरा नाथ ठाकुर के चरणों पर गिरकर ऊँचे स्वर से रोने लगे। बड़ी कठिनाई से ठाकुर ने उन्हें शांत किया। इस दर्शन के बाद ही मथुरानाथ का ठाकुर पर विश्वास और भी दृढ़ और गहरा हो गया।

अहेतुक कृपासिंधु ठाकुर की भी मथुरा पर करुणा की कोई सीमा नहीं थी। उनका वरदहस्त मथुराको सुख-दुःख, सम्पदा-विपदा, उजेला-अंधियारा सभी दशाओं में अजेय कवच जैसा सदा घेरे रहता था। मथुरानाथ ठाकुर में अलौकिक त्याग और निःस्वार्थ प्रेम, देवदुर्लभ सरलता तथा संयम, अपूर्व अभिमान हीनता एवं अद्भुत बुद्धिमत्ता, निर्भीक, सत्यनिष्ठा और सर्वोपरि अगाध करुणा और ईश्वरीय शक्ति का प्रचुर विकास देख चमत्कृत और मुग्ध होने लगे। वे मन-मन में अनुभव करने लगे कि ठाकुर ही उनकी जीवन-नैया के कर्णधार और आपदाओं से पूर्ण इस संसार समुद्र में उनके लिये एकमात्र ध्रुव तारा हैं। इसी कारण पवित्रता की जाग्रत मूर्त्ति ठाकुर के अभय प्रदायी पाद-पद्मों में

पूर्णतया आत्म-समर्पण कर मथुरानाथ ने ठाकुर की सेवा और देखरेख में देह, मन, प्राण सभी नियोजित कर दिये और शीघ्र ही अनेक आध्यात्मिक सम्पदा पर अधिकार प्राप्त कर कृत-कृत्य हो गए।

दिव्योन्माद एवं विवाह

इस समय ठाकुर का जीवन एक नई दिशा में प्रवाहित होने लगा। जगन्माता के उस ज्योतिर्मय रूप के दर्शन के बाद उनके निरन्तर और अबाध दर्शनों की व्याकुलता तीव्र से तीव्रतर होती चली। इसके कारण उनको अपने शरीर के अस्तित्व की भी सुध-बुध एक प्रकार से नहीं रही। ठाकुर कहते थे, "शरीर संस्कार पर एकदम ध्यान न रहने के कारण उस समय सिर के बाल बढ़कर धूल-मिट्टी से लिपट आपसे आप जटा बन गये थे। ध्यान पर बैठने से एकाग्रता से शरीर इतना जड़वत् निश्चल हो जाता कि पक्षी उसे जड़-पदार्थ समझ कर बेडर हो मस्तक पर आकर बैठते और चोंच से बालों के बीच धूल में अन्न के कणों को खोजते थे।"

सर्वभावों में लीन ठाकुर का मन किसी एक धर्म की सीमा में रहकर तृप्त न हो सका। जगदम्बा के दर्शनों के बाद वे अपने कुल-देवता भगवान रघुवीर के दर्शनों के लिये व्यग्र हो उठे और अपने में महावीर का दास्य-भाव का आरोप कर दिन-रात इष्ट ध्यान में मग्न रहने लगे। एक दिन पंचवटी के नीचे बैठे हठात् देखा कि एक ज्योतिर्मय स्त्री-मूर्त्ति उन पर प्रसन्न दृष्टि डालकर धीर ललित चाल से उत्तर दिशा से उन्हीं की ओर अग्रसर हो रही है। इसी समय अचानक एक हनुमान आकर उस मूर्ति के चरण-कमलों पर गिर पड़ा। निमेष में ही वह सुन्दर स्त्री-मूर्त्ति ठाकुर के शरीर में विलीन हो गई। आनन्द और विस्मय से विह्वल ठाकुर की वाह्य संज्ञा लुप्त हो गई। होश में आने पर अपने हृदय में उन्होंने अनुभव किया कि यही थीं सीता, जन्म-दुःखिनी सीता, जनक नन्दिनी सीता, रामाश्रित प्राणा सीता।

श्री राम-कृष्ण की दिव्योन्माद दशा की सूचना लोगों के मुँह अतिरंजित होती हुई—कामारपुकुर में स्नेहमयी माता चन्द्रा देवी तक शीघ्र ही पहुंच गई। उनके मन में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ कि अपने पुत्र को गांव के शांत वातावरण में लाने से उनकी सारी व्याधि छूट जायगी। मातृभक्त श्री रामकृष्ण मा का आह्वान पाकर सन् १८५८ ई० के आश्विन या कार्तिक महीने में कामारपुकुर आये। ठाकुर की आयु अभी २३ साल की हो रही थी। कुछ दिनों तक इस शान्तिपूर्ण स्थान में जननी की स्नेह छाया में रहने के कारण ठाकुर पहले से बहुत कुछ स्वस्थ, पुष्ट एवं शांत तो हुये ; परन्तु वे अपना अधिक समय गाँव के पश्चिम और उत्तर ओर स्थित "भूती की खाई" और "बुधुई मोड़ल" इन दोनों श्मशानों में बीताने लगे। इधर चन्द्रादेवी अपने मँझले पुत्र से राय कर श्री राम-कृष्ण को विवाह-बन्धन में बांधने का प्रयास करने लगीं। उनको अपनी पसन्द के मुताबिक लड़की नहीं मिल रही है, यह देखकर ठाकुर ही ने स्वयं एक दिन निर्देश दिया "जयरामवाटी गाँव के रामचन्द्र मुखोपाध्याय के घर में लड़की पहले ही से चुनी रखी है।" इस तरह से उन्होंने खुद ही दुलहिन का पता बतलाया। शीघ्र ही शुभ दिन और शुभ घड़ी में दो कोस की दूरी पर जयरामवाटी गांव के रामचन्द्र मुखोपाध्याय की षष्ठ-वर्षीय पुत्री सारदामणि से युगावतार श्रीरामकृष्ण का विवाह हुआ। आगे चलकर शारदा देवी के बारे में ठाकुर कहते थे—सारदा स्वयं सरस्वती उन्हीं की शक्ति है। उन्हींके कार्य सम्पादन में सहायता के लिये सारदा के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई है।

विवाह के बाद करीब सात महीने तक कामारपुकर में रहकर ठाकुर फिर दक्षिणेश्वर लौट आये और पहले जैसा जगदम्बा के ध्यान एवं मनन में पूरे मग्न हो गये। ठाकुर इस समय की दिव्योन्माद अवस्था को स्मरण कर कहते थे "अभी से लम्बे छः सालों की अवधि में पल भर के

लिये भी नींद नहीं आई। आँखें पलक रहित हो गई थीं। शरीर अत्यन्त क्षुब्ध और हेय प्रतीत होता था और माँ के दर्शन और उनकी अभयवाणी सुनकर मैं अस्वस्थ होता था।"

इसी समय दक्षिणेश्वर के इतिहास में अकस्मात् एक नये अध्याय की सूचना हुई। सन् १९६१ ई० के प्रारम्भ में रानी रासमणि हठात् संग्रहणी रोग से पीड़ित हो अपनी इष्ट देवी जगज्जननी कालिका देवी के अभय चरणों में चली गई। रानी के स्वर्गवास के बाद उनके सुयोग्य दामाद अनुभवी मथुरा नाथ देवसेवा संबंधी कार्य, कुशलता के साथ करने लगे और ठाकुर को देवता मानकर उनकी सेवा ही अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य समझ उसके सम्पादन में तत्पर रहे।

तन्त्र साधना

सन् १८६१ ई० के एक शुभ प्रभात की घड़ी में गैरिक वस्त्र धारिणी भैरवी के बेश में एक अतीव सुन्दरी रमणी ने दक्षिणेश्वर में पदार्पण किया। श्री रामकृष्ण को देखते ही वे समझ गई कि ये अपूर्व आध्यात्मिक सम्पत्ति के अधिकारी हैं। श्री रामकृष्ण भैरवी ब्राह्मणी को पाकर एक सरल बालक के ऐसा मन खोलकर अपनी सारी बातें उनसे कहने लगे। कुछ दिन बातचीत और विचार-विमर्श में बीतने पर विदुषी ब्राह्मणी ठाकुर का भावसमाधि में क्षण-क्षण बाह्य बोध लुप्त होना तथा संकीर्तन में अपूर्व उल्लास और वैष्णव ग्रन्थादि में कीर्ति श्री चैतन्य देव से ठाकुर के शरीर और मन में प्रकटित लक्षणों का सादृश्य देखकर सबों के समक्ष स्पष्ट रूप से व्यक्त किया—इसप्रकार एक ही आधार में (श्री रामकृष्ण के शरीर में) श्री चैतन्य और श्री नित्यानन्द का आविर्भाव हुआ है। भैरवी ब्राह्मणी दृढ़ स्वर में बोली, शास्त्र के सहारे अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिये पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करने के

लिये भी मैं तैयार हूँ। यह सुनकर उत्सुकतावश ठाकुर ने मथुरानाथ से पण्डितों की सभा बुलाने के लिये आग्रह किया।

अस्तु, मथुरानाथ के प्रबन्ध से बाँकुड़ा जिले के इँटेरा नामक स्थान के प्रसिद्ध पण्डित यन्त्र साधक गौरीकान्त तर्कभूषण, कलकत्ते के वैष्णव-शास्त्र विशारद प्रख्यात विद्वान् वैष्णवचरण आदि प्रमुख पण्डितगण एक विचार सभा में समवेत हुए। वाद-विवाद अधिक अग्रसर न हुआ। वैष्णवचरण भैरवी ब्राह्मणी के सभी सिद्धान्तों को मानते हुए बोले, "भक्ति शास्त्रों में जिन १६ प्रकार के प्रधान भाव या अवस्थाओं के सम्मिलन को महाभाव कहा गया है और जो केवल भावमयी श्री राधिका और भगवान श्री चैतन्य के जीवन में ही देखने में आये हैं, उनके सभी लक्षण इनमें (ठाकुर में) प्रतीत होते हैं।" ठाकुर, गौरी पण्डित को वैष्णवचरण के मत पर अपनी राय देने के लिये कहने पर गौरीकान्त ने स्पष्टरूपेण कहा, "वैष्णवचरण ने आपको अवतार कहा है ? तब तो यह बहुत छोटी बात कही है। मेरी धारणा है कि जिनके अंश से युग-युग में अवतारगण लोक-कल्याण के लिये संसार में अवतीर्ण होते हैं, जिनकी शक्ति से वे इस कार्य को करते हैं, आप वही हैं।" काल स्वभाव वाले ठाकुर हंसते-हंसते बोले, "तुम लोग इतनी सब बातें कहते हो, परन्तु क्या जाने बाबू, मैं तो कुछ नहीं जानता।" श्री रामकृष्ण के दिव्य सम्पर्क से आगे चलकर गौरीकान्त के मन में तीव्र वैराग्य की आग जल उठी। वे ठाकुर के आशीर्वाद को शिरोधार्य कर अविलम्ब संसार त्यागकर एकान्त स्थान में साधन भजन में लीन हो गये।

प्रज्ञा-सम्पन्ना सिद्ध साधिका भैरवी ब्राह्मणी ने तान्त्रिक क्रियाओं के लिये दुर्लभ वस्तुओं को विभिन्न स्थानों से संग्रह कर गहरी रात में गूढ़ तत्वादि ठाकुर को विचित्र क्रिया-कलाओं द्वारा सिखाने में अपने को नियोजित किया। ठाकुर स्नेहमयी जननी सदृश भैरवी का आदेश

शिरोधार्य कर तन्त्र-साधना में मग्न हो गये। इस साधना के बारे में वे कहते थे "मन इतना तन्मय हो जाता है कि माला जपने में समाधि हो जाती थी एवं उस क्रिया के शास्त्र-निर्दिष्ट फल सम्यक् प्रत्यक्ष हो जाते थे। इस समय दर्शन पर दर्शन, अनुभव पर अनुभव कितने कुछ अद्भुत प्रत्यक्ष होते थे कि उनकी कोई हद नहीं। विष्णुक्रान्ता में प्रचलित चौसठ तन्त्रों में जितनी साधनाओं के उल्लेख हैं, ब्राह्मणी ने एक-एक कर सब को करवाया था। कठिन साधना जिसमें अधिकतर साधक पथभ्रष्ट हो जाते हैं—श्री श्री जगदम्बा की कृपा से उन सबों में उत्तीर्ण हुआ हूँ।"

दक्षिणेश्वर की साधन-पीठ में युगावतार श्री रामकृष्ण द्वारा नारी को गुरु के रूप में मानना अपनी सहधर्मिणी की षोड़सी देवी के रूप में आराधना—मातृभाव में साधना से क्या इस वर्त्तमान युग में नारी जाति के अभ्युदय की सूचना नहीं मिलती?

वात्सल्य-भाव की साधना

पुष्प प्रस्फुटित होते ही मधु के लोभी भौंरे चारों ओर से दौड़ने लगते हैं। दक्षिणेश्वर के तपोवन में श्री रामकृष्ण के सुरभित आध्यात्म-जीवन के पुष्प विकसित होने के साथ-साथ क्रमशः कितने पण्डित, सिद्ध-साधक, योगी, भक्त और विभिन्न सम्प्रदायों के संन्यासी दूर-दूर से आने लगे, इसकी सीमा नहीं। सभी इस अद्भुत भावोन्माद पुरुष के दिव्यसंग और ज्ञानपूर्ण उपदेश पाकर धन्य होने लगे। पूर्वोक्त गौरीकान्त और वैष्णवचरण के अतिरिक्त पण्डित जयनारायण, षड्दर्शन में पारांगत राजपूताना के नारायण शास्त्री, सुप्रसिद्ध नैयायिक पद्मलोचन तर्कालंकार आदि भी श्री रामकृष्ण के अध्यात्म-ज्ञान से पवित्र जीवन के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर कृतार्थ हुये थे।

सन् १८६४ ई० के किसी दिन एक जटाधारी नाम के राम-भक्त साधक भारत के विभिन्न तीर्थों के पर्यटन के उपरान्त दक्षिणेश्वर आये।

वे दीर्घकाल तक निष्ठा एवं भक्ति सहित रामलाला के विग्रह की पूजा कर बाल रामचन्द्र की भावमयी मूर्त्ति के दर्शनों से कृतार्थ हुये थे। भाव राज्य के अद्वितीय अधीश्वर ठाकुर ने अपनी दिव्य-दृष्टि के सहारे गूढ़ तत्व को अवगत कर लिया। शीघ्र ही ठाकुर ने जटाधारी से राम-मन्त्र की दीक्षा लेकर वात्सल्य भाव की साधना में चरम उत्कर्ष प्राप्त करने के साथ-साथ श्रीरामचन्द्र की ज्योतिर्घन बाल-मूर्त्ति के दर्शन से परमानन्द को प्राप्त किया। रामलाला के बारे में ठाकुर कहते थे, "मैं देखता था—सचमुच देखता था कि मेरे साथ-साथ कभी सामने कभी पीछे रामलाला नाचता हुआ आ रहा है। कभी गोद में आने के लिये दुलार कर रहा है और कभी गोद में लिये हुये हूँ, किसी भी तरह से गोद में न रहेगा, गोद से उतरकर धूप में दौड़ने जायगा। काँटों की झाड़ी में फूलों को चुनने के लिये जायगा या गंगा के पानी में गोते लगावेगा। कितना मना करता हूँ, अरे गर्मी से देह में फफोले पड़ जायेंगे और पानी मत हिंडोरो ठण्ड लगकर सर्दी होगी, बुखार होगा।" वह क्या इन सब की परवाह करता ! कभी मेरी तरफ अपने उन कमल-नयनों से देख कर हँसने लगता, और भी शैतानी करने लगता था, अपने होठों से उलट कर मुझे मुँह चिढ़ाता। तब सचमुच मैं रंज होकर, "तब रे शैतान ठहर, आज मारकर तेरी हड्डी चूर कर दूँगा" कहता हुआ धूप या पानी से उसे जबरदस्ती घसीट कर लाता और यह चीज वह चीज देकर भुलाकर घर में ही खेलने के लिये कहता। और कभी शैतानी किसी भी तरह से बन्द नहीं होते देखकर एक-आध थप्पड़ भी लगा देता। मार पड़ने पर सुन्दर होठों को फुलाकर आँसू भरी आँखों से मेरी ओर देखता। तब मेरे मन में कष्ट होता, गोद में लेकर कितना लाड़-प्यार कर उसे भुलाता। ऐसा ही सब ठीक-ठीक मैं देखता और किया करता था।

एक दिन स्नान करने जा रहा हूँ, जिद्द की कि वह भी जायगा।

क्या करूँ ले गया। तब फिर पानी से निकलना ही नहीं चाहे, कितना ही कहता हूँ सुनता ही नहीं। अन्त में रंज होकर पानी में डुबोकर कहा, "लो, कितना पानी हिड़ोरना चाहते हो हिड़ोरो, और सचमुच देखा कि पानी के अन्दर वह हाँफता हुआ सिहर उठा। तब देखा कि पानी में हाँफते हुये काँपने लगा। उसका कष्ट देखकर मैंने यह यह क्या किया सोचते हुये उसे पानी से उठाकर ले आया।"

इस तरह वैष्णव तंत्रोक्त शांतदास्यादि विभिन्न भावों की साधनाओं में सफल हो ठाकुर अब मधुर रसाश्रित मुख्य भाव की साधना में दत्तचित्त हुये। लीला प्रसंग के लेखक ने कहा है, "इस मधुर भाव की साधना में प्रवृत्त हो ठाकुर ने स्त्रियों जैसा वेशवास धारण किया और इस तरह सज्जित होकर श्री हरि की प्रेमकांक्षिणी व्रजरमणी के भाव में क्रमशः इतना मग्न हो गये कि एक समय उनमें अपना पुरुष बोध अन्तर्हित हो उनकी प्रत्येक चिन्ता, चेष्टा और वचन स्त्री जैसे हो गये। श्रीमती राधारानी की कृपा बिना श्रीकृष्ण के दर्शन असंभव जानकर तद्गत चित्त से उनकी उपासना में प्रवृत्त हो गये और उनकी प्रेमघन मूर्त्ति के स्मरण, मनन और ध्यान में निरन्तर मग्न रह कर उनके श्रीपाद-पद्म में अपने हृदय के आकुल आवेग को अविरल निवेदित करते रहे। इससे शीघ्र ही श्रीमती राधारानी के दर्शनों से कृतार्थ हुये। उस दर्शन के बाद ही कुछ दिनों तक ठाकुर अपने में निरन्तर श्रीमती की उपलब्धि करने लगे और थोड़े ही दिनों के उपरान्त सच्चिदानन्द घन विग्रह भगवान श्रीकृष्ण के विग्रह के पुण्य दर्शन से धन्य हुये। ठाकुर कहते थे कि उस समय श्रीकृष्ण-चिन्तन में सम्पूर्ण लीन हो वे अपना पृथक अस्तित्व का बोध खोकर कभी अपने को स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का बोध होता था और कभी आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सभी को श्रीकृष्ण का ही विग्रह देखते थे।

"अद्वैत-साधन"

भाव-साधना की सर्वोच्च भूमि में आरूढ़ हो ठाकुर श्रीरामकृष्ण अब सर्वभावातीत "अवांगमानस गोचरम्" एकमेवाद्वितीयम् निर्गुण, निराकार परब्रह्म की उपलब्धि प्राप्त करने की प्रबल प्रेरणा का अनुभव करने लगे। चारों साधनाओं में सफलीभूत ठाकुर का हृदय और मन जब इस प्रकार अद्वैत साधना का उपयुक्त क्षेत्र बन चुका था। उस मुहूर्त्त में प्रख्यात दशनामी संन्यासी सम्प्रदाय के परिव्राजकाचार्य श्रीमत् स्वामी तोतापुरीजी ने दक्षिणेश्वर के पुण्य-स्थान में पदार्पण किया। ठाकुर की सरलतापूर्ण प्रोज्ज्वल चेहरे की शोभा निरखते ही ब्रह्मविद् संन्यासी ने अनुभव किया कि अद्वैत साधना के उत्तम अधिकारी उनके समकक्ष उपस्थित हैं। रामकृष्ण देव को अपना शिष्य बनाने का उन्होंने आग्रह किया। बालक जैसे स्वभाव वाले सर्वभावेन भवतारिणी के मुखापेक्षी रामकृष्ण ने देवी की आज्ञा प्राप्त कर तोतापुरीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया एवं शास्त्रानुसार आत्म-श्राद्धादि क्रिया समाप्त कर पूतगम्भीर ब्रह्ममुहूर्त्त में पंचवटी के निकट कुटिया में प्रज्वलित होमाग्नि में आहुति प्रदान कर सर्वस्व त्याग रूपसनातन-संन्यास व्रत लेकर सम्प्रदायोचित नाम एवं चिह्नादि धारण किये। स्वामी तोतापुरीजी ने वेदान्त में वर्णित ब्रह्मतत्व के सम्बन्ध में ठाकुर को उपदेश देते हुये कहा—"वे एकमेवाद्वितीयम्" हैं। उसी एकचित् समुद्र से विश्व-ब्रह्माण्ड का उद्भव होता है, उसी में स्थिति और उसी में विलय होता है। इस उद्भव अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्मवस्तु में मिथ्या नामरूप का कल्प नहीं है। समुद्र में फेनोर्मिवत्, सृष्टि का वैचित्र प्रस्फुटित है। परमार्थतः एक निरुपाधिक अद्वय ब्रह्म के अतिरिक्त जीवादि अन्य वस्तुओं का पृथक अस्तित्व नहीं है। ठाकुर श्री रामकृष्ण गुरु के उपदेश को हृदय में सम्यक् रूप से धारण कर दृढ़सङ्कल्प के सहारे मन को धीरे-धीरे नामरूपात्मक द्वैतराज्य से अतीत ब्रह्म स्वरूप में निविष्ट कर निर्विकल्प

समाधि में लीन हो गये। समाधितत्वज्ञ तोतापुरीजी आनन्द के साथ बोल उठे, "यह क्या दैवी माया।" निर्विकल्प समाधि, बाद में उनके यत्न से श्री रामकृष्ण ने क्रमशः निर्विकल्प समाधि से प्रोत्थित हो बड़ी श्रद्धा के साथ विस्मित एवं पुलकित श्रीमत् तोतापुरीजी की पद-वन्दना की। आज इस परम शुभ मुहूर्त्त में पूतसलीला भागीरथी के तट पर पंचवटी की एकान्त कुटिया में जैसे ब्रह्म-विज्ञान का उन्मेष हुआ वैसा इस संसार में कितनी बार हुआ होगा।

शिष्य की अभूतपूर्व आध्यात्मिक प्रतिभा देख और उसके सप्रेम, श्रद्धापूर्ण एवं सरल बर्ताव से मुग्ध हो तोतापुरीजी ने दक्षिणेश्वर के तपोवन में लगातार ग्यारह माह विपुल आनन्द में व्यतीत किये। निर्भीक तथा बलिष्ठ तोतापुरीजी ने विद्या अविद्या रूपिणी आदिशक्ति को शुद्ध अद्वैत साधना की पद्धति में कभी स्वीकार नहीं किया, यद्यपि महामाया को स्वीकार किये विना विश्व की सृष्टि स्थिति प्रलय का गूढ़ रहस्य हल करना भी सम्भव नहीं है। मानो तोतापुरीजी की ज्ञान की पूर्णता के लिये ही उनके स्वस्थ और बलवान शरीर में एक कठिन व्याधि ने आकर अपना आसन जमा लिया। आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित संन्यासी ने जब देखा कि रोग छूटता ही नहीं, तब व्याधिग्रस्त शरीर को गङ्गाजल में विसर्जित करने के उद्देश्य से एक दिन गहरी रात में भागीरथी के गर्भ में डूबने की चेष्टा भी जब उनकी व्यर्थ रही, ऐसी दशा में वे सोचने लगे—"यह कैसी दैवी माया, डूबकर मरने के लिये भी पर्याप्त जल नदी में नहीं है। यह ईश्वर की कैसी अपूर्व लीला है!"

सहसा तोतापुरीजी के अन्तश्चक्षु को ऐसा प्रतीत हुआ कि विश्व-दृश्य पर से एक दुर्भेद्य आवरण हट गया। विस्मय विह्वल चित्त तोतापुरी ने देखा कि एक अगाध अपार अनन्त शक्ति समुद्र विचित्र लीला की तरंगों से चंचल है। निश्चल, निष्क्रिय एवं प्रशान्त दशा में जो ब्रह्म हैं, लीला

में वही हैं जगज्जननी मा। सृष्टि स्थिति लय,—महाशक्ति महामाया के लीला नाटक में नित्य नवीन पटपरिवर्तन मात्र है। प्रशान्त महासमुद्र में फेन बुद्बुद तरंगों के उद्भव और लय जैसा असीम चित्र समुद्र में अनन्त कोटि वैचित्र्य की सृष्टि और प्रलय के रूप में उसी महाशक्ति का चिरन्तन अभिनय चल रहा है। मधुर और भीषण, सुन्दर और कुत्सित, सुख और दुःख, आलोक और अन्धकार—इस सर्वद्वन्द्वमयी रूप में प्रकटित अचिन्त्य शक्ति ही निरन्तर नवीन को पुरातन, पुरातन को नवीन बना रही है। एक ही का विचित्र विकास है। विभिन्न रूपों और विभिन्न नामों का एक चिन्मय सत्व की ही लीला प्रतिभासित है। एक आधार में शिव एवं शक्ति,—वैदान्तिक शास्त्रों में इसी कारण कहा गया है "शक्ति शक्ति मतोरभेदः"। इस अपूर्व अनुभूति ने तोतापुरीजी के अद्वैतज्ञान को सम्पूर्ण बना दिया। प्रसन्न मन और स्वस्थ शरीर हो तोतापुरीजी ने आत्मज्ञानी शिष्य से विदा ली।

इस्लाम और ईसाई धर्म की साधना

अद्वैत भूमि पर समासीन—श्री रामकृष्ण का शुद्ध शान्त मन एक समुन्नत उदार भावना की रंगभूमि बन गया। वे सभी धर्मों के गूढ़ तत्वों को अपने जीवन में प्रत्यक्ष करने के लिये व्यग्र हो उठे। सन् १८६६ ई० के अन्तिम भाग में ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने सूफी सम्प्रदाय के गोविन्दराय से इस्लाम धर्म की दीक्षा लेकर तीन दिनों के अन्दर ही हजरत मुहम्मद के दिव्य दर्शन प्राप्त किये और उस धर्म के तत्त्व की उपलब्धि उन्हें हो गई। ठाकुर कहा करते थे कि हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के बीच एक पहाड़ जैसी बाधा खड़ी है। परस्पर की विचार प्रणाली, धर्मविश्वास और क्रियात्मवाद परस्पर के लिये सम्पूर्ण दुर्बोध्य बने हुये हैं। यह अविलम्ब ही समझ में आता है कि युगावतार ठाकुर को इस्लाम धर्म की साधना का उद्देश्य था इस बाधा को दूर कर परस्पर में भ्रातृभाव को लाना।

यहीं पर सभी धर्मों की साधना का अन्त नहीं हुआ। कलकत्ते के सिंदुरियापट्टी महल्ले के ब्राह्म भक्त और बड़े दानी श्री शम्भू मल्लिक से बाईबिल सुनकर ईसाई धर्मतत्त्व प्रत्यक्ष करने की तीव्र इच्छा का अनुभव उन्हें हुआ। एक दिन दक्षिणेश्वर में कालीजी के मन्दिर के बहुत निकट स्थित यदुनाथ मल्लिक के उद्यानावास के बैठके में दीवार पर टँगी हुई बहुत सी तस्वीरों में माता की गोद में ईसामसीह की बालगोपाल मूर्ति के दर्शन करते हुए तन्मय होकर ठाकुर उनके विचित्र जीवन की बातें सोच रहें थे। सहसा उन्होंने देखा कि उस देव शिशु के शरीर से एक उज्ज्वल ज्योति उनके शरीर में प्रवेश कर उनके चिरकाल के हिन्दू संस्कारों में आमूल परिवर्तन ला रही है। तीन दिनों तक इस भाव-तरंग ने इन्हें आविष्ट कर रखा। तदनन्तर पंचवटी में भ्रमण करते हुए करुणा की प्रतिमूर्त्ति एक देव मानव के साक्षात् दर्शन पाकर वे समझे कि ये ही परम प्रेमिक ईसामसीह हैं, जिन्होंने जीवों का उद्धार करने के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर अपार यातनाओं को अनायास सहन किया था। इस प्रकार ठाकुर ने द्वन्द्व कोलाहलपूर्ण विशाल विश्व में सभी को प्रेम बन्धन में बांधने के लिये सर्वधर्म समन्वायात्मक "जितने मत उतने पथ" रूपी एक उच्छेद्य मिलन सूत्र का आविष्कार किया।

भैरवी ब्राह्मणी का प्रस्थान

बहुत दिनों की कृच्छ्र साधना से ठाकुर का शरीर क्रमशः जीर्णशीर्ण हो गया। मथुरानाथ और अन्यान्य हिताकांक्षियों के निर्देशानुसार सन् १८६७ ई० के मई मास में ठाकुर स्वास्थ्य के सुधार के लिये अपनी जन्म-भूमि कामारपुकुर आये। साथ में तन्त्र साधना में साहाय्य करने वाली भैरवी ब्राह्मणी भी आई। ठाकुर की सहधर्मिणी सारदा देवी की आयु चौदह साल की हो रही थी। ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने अत्र शिक्षादी-

क्षादि द्वारा उनकी सम्पूर्ण उन्नति और कल्याण के लिये अपने को नियोजित किया। श्रीमत् तोतापुरी ने ठाकुर विवाहित हैं जानकर उनसे एकबार कहा था, "पत्नी निकट में रहते हुए जिसका त्याग, वैराग्य, विवेक तथा विज्ञान सर्वभावेन अक्षुण्ण रहता है, वही व्यक्ति ब्रह्म में सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित होता है। जो स्त्री एवं पुरुष दोनों को आत्मा जानकर उसी दृष्टि से उन्हें देखते हैं और उसी तरह का उनसे बर्ताव कर सकते हैं, उन्हें ही यथार्थ ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ है।"

कामारपुकुर आकर ठाकुर के अपनी धर्मपत्नी के प्रति कर्तव्य और अपने ब्रह्म विज्ञान की गम्भीरता की परीक्षा में विरत होते ही भैरवी ब्राह्मणी ठाकुर के आध्यात्मिक जीवन की हानि की आशंका से विचलित हो उठी और सामान्य कारणवश ही उत्तेजित होकर सारदा देवी और परिवार के लोगों के साथ विशदृश आचरण करने लगीं। परम करुणाशील श्रीरामकृष्ण को यह समझना बाकी न रहा कि भैरवी सामाजिक माया के आवरण में विभ्रान्त हो ऐसे भ्रम में पड़ गई हैं। शीघ्र ही साधिका भैरवी को अपना भ्रम समझ में आ गया और उन्होंने एक शुभ दिन में अपने प्राण प्रीतम ठाकुर को अपने हाथों से प्रस्तुत पुष्प-माल्य से भूषित कर उन्हें नदीया बिहारी श्री गौरांग के बोध में उनकी पद-वन्दना की और स्नेह का बंधन तोड़ विश्व के उन्मुक्त प्रांगण में बिना किसी बाधा के विचरण करने का सुअवसर पुनः प्राप्त कर कामारपुकुर गांव के शान्त वातावरण को छोड़ काशी धर्म के प्रशस्त पथ पर यात्रा की। ऐसा सुनने में आता है कि वे अपने जीवन के अन्तिम दिन श्रीहरि की लीला भूमि ब्रजपुरी में परमानन्द में व्यतीत करती हुई उसी पवित्र तीर्थ में महायोग में दिवंगत हुईं। ठाकुर श्रीरामकृष्ण भी कामारपुकर में प्रायः सात माह बड़े आनन्द के साथ बीता कर हृदय के साथ अपने साधन स्थल दक्षिणेश्वर को लौट आये।

तीर्थ पर्यटन

मथुरानाथ अपनी पत्नी सहित करीब सौ से अधिक लोगों के साथ २७वीं जनवरी, सन् १८६८ ई० को भारत के उत्तर पश्चिमांचल के तीर्थों के दर्शन के लिये रवाना हुये। उन्होंने श्री श्री ठाकुर और हृदयराम को भी अपने साथ में लिया। एक-एक कर वैद्यनाथ धाम, वाराणसी, प्रयाग, वृन्दावन, मथुरा आदि प्रमुख तीर्थों के दर्शनों से सबों को बहुत आनन्द हुआ। इस तीर्थ-पर्यटन के भ्रमण में मथुरानाथ ने खुले हाथ बहुत धन और मूल्यवान वस्तु आदि का दान किया।

काशीजी और वृन्दावन धाम में रहते समय ठाकुर को नाना प्रकार के दिव्य दर्शन और अनुभव प्राप्त हुए थे। वाराणसी में प्रवेश करते ही भावनेत्र से उन्होंने देखा कि शिवपुरी वाराणसी स्वर्ण निर्मित है। "युग-युगान्त के साधु एवं भक्तों की कांचन तुल्य उज्ज्वल अमूल्य भाव सम्पदायें ढेर के ढेर संचित और घनीभूत हो इसके वर्त्तमान रूप में प्रकट हुई हैं। वही ज्योतिर्मय भावपूर्ण रूप ही इसका नित्य सत्यरूप है और बाहर जो देखने में आता है वह केवल उसीकी छाया मात्र है। भारत के प्रायः तीस करोड़ हृदयों की भक्ति भावना ने इस नगर में इस समभाव से एकत्रित हो इसके ऐसे वाह्य रूप का सृजन किया है, यह सोचकर किसका मन स्तम्भित न होगा*।"

एक दिन ठाकुर मणिकर्णिकादि तीर्थ दर्शन के लिये नाव से मणिकर्णिका घाट के सामने आये और सहसा न जाने क्या देखकर नाव के किनारे रोमांचित कलेवर धीर-स्थिर निश्चेष्ट होकर खड़े रहे। मुख-मंडल पर अपूर्व दिव्य ज्योति, अधरों पर अपूर्व हास्य, भाव के आवेश में समाधिस्थ हो गए। भाव कुछ घटने पर अन्यत्र चले जानेके बाद

* लीला प्रसंग, गुरुभाव, उत्तरार्द्ध, तृतीय अध्याय (पृ० १२६, १२७ देखें।)

मथुरानाथ इत्यादि को इस दर्शन के बारे में कहने लगे, "देखा, पिंगलवर्ण, जटाधारी दीर्घ-आकृति वाले श्वेत शरीर एक पुरुष गंभीर पटक्षेप से श्मशान में प्रत्येक चिता के बगल में आ रहे हैं और प्रत्येक देही को यत्न सहित उठाकर उसके कानों में तारकब्रह्म मंत्र प्रदान कर रहे हैं। चिता की दूसरी ओर सर्वशक्तिमयी श्री श्री जगदम्बा स्वयं महाकाली के रूप में उस चिता पर बैठकर उसके स्थूल, सूक्ष्म कारण आदि सभी प्रकार के संस्कार बंधन को खोल रही हैं और निर्वाण के द्वारा उन्मुक्त कर अपने हाथों से अखण्ड के घर में भेज रही हैं। इस तरह बहुत दिनों की योग साधना एवं तपस्या से जो अद्वैतानुभव का भूमानन्त प्राप्त होता है, उसे श्री विश्वनाथ उसको तत्क्षण देकर कृतार्थ कर रहे हैं।

काशीजी में रहते समय ठाकुर प्रायः प्रतिदिन विश्वनाथ के दर्शन करने जाते और भावाविष्ट हो जाया करते। श्री रामकृष्ण देव स्थान आदि के दर्शन के अतिरिक्त साधु संन्यासियों के दर्शन से भी आनन्द प्राप्त करते थे। परमहंस शिरोमणि श्रीमत् तैलंगस्वामीजी मौन व्रत धारण कर मणिकर्णिका घाट पर रहते थे। उनके दर्शनों के बाद ठाकुर ने कहा था, "देखा साक्षात् विश्वनाथ उनके शरीर को आश्रय कर प्रकट हो रहे हैं। उनकी अवस्थिति से काशी उज्ज्वल हो रही है। उनकी अवस्था उच्च ज्ञान की थी। इशारे से उनसे पूछा था ईश्वर एक है या अनेक? इशारे से उन्होंने समझाया कि समाधिस्थ दशा में एक, नहीं तो जब तक हम-तुम, जीव-जगत् आदि नाना प्रकार के बोध हैं, तब तक वे अनेक हैं। उन्हें दिखाकर मैंने हृदय से कहा था कि इसीको ठीक-ठीक परमहंस अवस्था कहा जाता है।"

ठाकुर काशीजी में कुछ दिन रहकर मथुरानाथ के साथ श्रीकृष्ण के लीला-निकेतन वृन्दावन धाम दर्शन के लिये आये और निधुवन के पास एक मकान में ठहरे। श्री वृन्दावन की अपूर्व शोभा देखकर युगयुगान्त

की स्मृति आज ठाकुर के मानस पट पर जीवन्त हो उठी। वही यमुना अपनी तरंगों के साथ कलकल स्वर से इठलाती नाचती जा रही है, वही नील तमालवृक्षराजि, वही कदम्ब वन, कुँज-कुँज में अभी भी पुञ्ज-पुंज भ्रमर-भ्रमरी गुँजन में मत्त हैं, उच्च पुच्छ उठाकर मोर पुलकित हो पङ्ख विस्तृत कर विचित्र भंगिमा में नृत्य कर रहे हैं। गोप-गोपियों के पदांक से पवित्र रजकण अभी भी श्रीकृष्ण की स्मृति वक्ष पर धारण कर अवस्थित है। शताब्दी पर शताब्दियाँ अतीत में लीन हो गई तो भी व्रजभूमि का जीवन-प्रवाह अभी भी वैसे ही एकसा प्राणवन्त छन्द में प्रवाहित है। वृन्दावन के प्रत्येक वृक्ष-लता, वन, उपवन, मन्दिर के दर्शन से ठाकुर के हृदय का प्रेम-सिन्धु उथल उठा और कृष्णचन्द्र की विचित्र लीला भाव नेत्रों से देख क्षण-क्षण में समाधिस्थ होने लगे।

काशीजी जैसा वृन्दावन धाम में भी बहुत से वैरागी साधक-साधिकाओं के दर्शन उन्होंने किये। निधुवन में साठ साल की आयु की सिद्ध-साधिका गंगा माता ठाकुर को श्रीमती राधारानी के बोध में प्यार से "दुलाली" कहकर सम्बोधन करती थी। ठाकुर ने भी इस वृद्धा तपस्विनी के कृष्ण-प्रेम से अत्यन्त मुग्ध हो वृन्दावन ही में जीवन के बाकी दिन व्यतीत करने का विचार किया। परन्तु अपनी वृद्धा माता चन्द्रादेवी का स्मरण होने के कारण उन्होंने इस संकल्प को छोड़ दिया। करीब चार महीनों तक बहुत से तीर्थों के दर्शनों के बाद मथुरा बाबू के साथ दक्षिणेश्वर में लौट आये। वृन्दावन से लाये हुए रजकणों को ठाकुर ने अपने हाथों से पंचवटी में छिड़ककर कहा था, "आज से यह स्थान श्रीवृन्दावन जैसा देव-भूमि बन गया।" ठाकुर और एकबार (सन् १८७९ ई०) मथुरा के साथ तीर्थाटन के लिये चलकर कालना, नवद्वीप आदि स्थानों में भी गये थे। कालनादि में श्री चैतन्यदेव के चरणों में आश्रित वैष्णव कुल चूड़ामणि भगवानदास बाबाजी के साथ भगवत् प्रसंग में ठाकुर

श्रीरामकृष्ण भावावेश और आनन्द में मत्त हो गये थे। नवद्वीप धाम में ठाकुर भाव नेत्रों से बाल-वेशधारी मनोहर कान्ति श्री गौराङ्ग और प्रभुपाद नित्यानन्द को प्रविष्ट होते देखकर उस तीर्थ-स्थान के महात्म्य के अनुभव में पुलकित हो उठे थे।

मथुरानाथ की मृत्यु

इस तरह ठाकुर की सेवा और दिव्य-संसर्ग में मथुरानाथ के सोलह वर्ष बीते। ठाकुर की अहेतुकी कृपा से मथुरादास का हृदय और मन अब निष्काम भाव और भगवत् प्रेम से परिपूर्ण हो उठा। उन्होंने मर्म-मर्म में अनुभव किया था कि आपदाओं से पूण संसार समुद्र से पार होने के लिये एकमात्र खेवैया हैं ठाकुर श्री राम-कृष्ण। इसीसे अपने प्राणों को समर्पित किये मथुरानाथ, ठाकुर पर पूर्णरूपेण निर्भर, शान्त और निश्चिन्त थे। सन् १८७० ई० का जुलाई मास था—सहसा मथुरानाथ कठिन रोग के ग्रास में पड़ गये। ठाकुर समझ गये कि मथुरानाथ का जीवन प्रदीप बुझने जा रहा था। शीघ्र कालीघाट में उन्हें स्थानान्तरित किया गया। परन्तु ठाकुर इस बार मथुरा को देखने नहीं गये। मथुरा का अन्तिम समय आ जाने पर ठाकुर समाधिस्थ हो गये और सूक्ष्म शरीर में ज्योतिर्मय पथ से जाकर मथुरा के पास उपस्थित हो उन्होंने एक अत्युज्ज्वल पुण्यलोक में उनकी गति का विधान कर दिया। मथुरा के दिवंगत होने के साथ-साथ ठाकुर के जीवन नाट्य का एक स्मरणीय अंक समाप्त हुआ।

षोड़शी पूजा

मथुरानाथ के निधन के बाद प्रायः छः माह बीत चुके। सारदा-देवी ने अब षोड़श वर्ष में पदार्पण किया है। श्रीरामकृष्ण के कामार-

पुकुर रहते समय श्रीश्रीमा (सारदा देवी) ने जो दाम्पत्य जीवन का निर्मल आदर्श पतिदेव के चरणों के पास बैठे सीखा था, जिस अतुलनीय पवित्र प्रेम का स्पर्श पाकर उनका जीवन माधुर्यपूर्ण हो उठा था—उसीने उनके जीवन का एक मात्र आधार और पाथेय बनकर इन्हें दिव्य पथ का पथिक बना दिया था। सारदा देवी इस आनन्द की अधिकारिणी बनकर अपने मन के आनन्द में चार वर्ष तक मैंके में रही। इधर दक्षिणेश्वर से लोगों के द्वारा विकृत और अतिरंजित संवाद आने लगा कि उनके देवतुल्य पतिदेव नंगे देह हरिनाम लेते हुये नाचते गाते फिर रहे हैं। यह सुनकर पतिप्राणा सारदा का हृदय व्याकुल उच्छवास में रो उठा। ठाकुर के दर्शन और उनकी सेवा करने की इच्छा से वे व्यग्र हो उठीं। उनके बुद्धिमान पिता रामचन्द्र मुखोपाध्माय अपनी पुत्री के हृदय की बात समझ कर उन्हें अपने साथ ले सन् १८७२ ई० के मार्च महीने में दक्षिणेश्वर में उपस्थित हुये। राह चलने में अनभ्यस्त सारदा रास्ते में बड़े ज्वर से पीड़ित हो बहुत दुबली हो गई थी। ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अस्वस्थ और क्लिष्ट देख कर तत्क्षण, बड़े स्नेह और यत्न के साथ उनकी चिकित्सा पथ्य आदि का प्रबन्ध कर दिया और बाद में नहबतखाने में जहाँ उनकी जननी चन्द्रा देवी रहती थीं, वहाँ उनके ठहरने की व्यवस्था कर दी। श्रीश्रीमा ठाकुर को शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ देख कर आनन्दित और निश्चिन्त हुईं।

इस तरह सारदा देवी उनके निकट रहने के कारण ठाकुर ने कामारपुकुर में जो शिक्षा उन्हें मानव जीवन के आदर्श और उद्देश्य के बारे में देनी आरम्भ की थी, उसको पूर्ण करने में अपने को नियोजित किया। श्रीश्री माँ ने भी दिन-ब-दिन ठाकुर के संसर्ग में शीघ्र ही अपने पतिदेव की साधना से उपलब्ध प्रचुर सम्पदा पर अधिकार प्राप्त किया।

एक दिन ठाकुर ने श्रीश्री माताजी की मनोवासना की परीक्षा के

लिये उनसे पूछा, "तुम क्या मुझे सांसारिक जीवन के पथ पर आकृष्ट करने के लिये आई हो?" श्री श्री माँ ने धीर, शान्त भाव में उत्तर दिया, "मैं क्यों तुम्हें संसार के पथ पर आकृष्ट करने के लिये आऊँगी? तुम्हारे इष्ट पथ ही पर सहायता देने आई हूँ।"

पैर दाबती हुई श्री श्री माँ ने भी एक दिन अपने देव सदृश पतिदेव से पूछा, "मुझे तुम किस तरह देखते हो?" आत्माराम ठाकुर ने सरल सहज भाव में उत्तर दिया, "जो माँ मन्दिर में है, उसीने इस शरीर को जन्म दिया है और अभी भी नहवतखाने में रहती हैं और वही अभी मेरी पदसेवा कर रही हैं। साक्षात् आनन्दमयी के स्वरूप में तुम्हें सचमुच सदा देखता हूँ।" इस देवदम्पति की आध्यात्मिक अनुभूति, निर्मल भावना और उच्चादर्श देखने से किसका हृदय भक्ति और श्रद्धा में इनके चरण कमलों पर स्वतः ही न झुक जाता है।

श्रीश्री माताजी ठाकुर की सस्नेह देखरेख में गंभीर साधना में मगन हो विचित्र आध्यात्मिक अनुभूतियों को पाने लगी और नहवतखाने के उस छोटे से कमरे में अपनी वृद्धा सास, पतिदेव एवं भक्तों की सेवा में अपने को लगाकर उन्होंने दाम्पत्य जीवन के एक अभिनव अध्याय की रचना की। इसी समय ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने ५वीं जून सन् १८७२ ई० को अमावस्या तिथि पर अपने शयन कक्ष में फलहारिणी कालिका देवी की पूजा का सारा आयोजन कर श्री श्री सारदा देवी को सुसज्जित आसन पर बिठाया। निस्तब्ध निशा में दिव्य भाव से परिपूर्ण अपनी सहधर्मिणी की विश्वजननी षोड़शी के बोध में आराधना कर ठाकुर ने अपने दीर्घ साधन-यज्ञ में आज पूर्णाहुति समर्पित की।

श्रीरामकृष्ण और सारदा देवी का दाम्पत्य जीवन संसार के आध्यात्मिक इतिहास का एक अभिनव अध्याय है। मानो उस दाम्पत्य जीवन तरुवर; कामारपुकुर की पुण्य भूमि में पहले अंकुरित, पुष्प समन्वित

और फलों के बोझ से सुसज्जित हुआ और दक्षिणेश्वर के तपोवन में तिमिराच्छन्न अमानिशा में षोड़शी महाविद्या के बोध में अपनी धर्मपत्नी की पूजा में उसीकी पूर्ण परिणति हुई। श्रीरामकृष्ण गृहस्थ और सन्यासी थे, सारदा देवी भी थी गृहिणी एवं योगिनी। शिव और शक्ति दो हृदय एक ही स्वर्णसूत्र में गूथे हुये दो महाभावों का चिर सम्मिलन जहाँ न विच्छेद है न विरह, केवल है एक अनिर्वचनीय प्रशान्ति तथा पवित्र प्रेम की शाश्वत अभिव्यक्ति। ऐसा स्वर्गीय समन्वय जगत् में विरल ही है। इतिहास इसके सदृश और एक चित्र की रचना करने में अबतक असमर्थ रहा।

श्री श्री माँ सारदा देवी ने पुण्यस्थल दक्षिणेश्वर में अविरत साधन भजन, सास, पति और भक्तों की सेवा में एक साल चार मास बिताये और हृदय में परिपूर्ण शांति और आनन्द देकर सन् १८७३ ई० के सितम्बर मास में कामारपुकुर लौट गईं।

"डकैत बाबा—"

श्री श्री माँ के कामारपुकुर लौटने के कुछ ही दिनों के बाद ठाकुर के मध्यम अग्रज रामेश्वर ४८ वर्ष की आयु में ज्वरातिसार रोग से पीड़ित हो दिवंगत हो गये। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र रामलाल चट्टोपाध्याय पुजारी के पद पर आये। ठाकुर के ज्येष्ठ श्रीरामकुमार के एक मात्र पुत्र अक्षय का उल्लेख इसके पूर्व किया गया है। क्रमशः शिक्षादि प्राप्तकर यह सुदर्शन युवक दक्षिणेश्वर में राधागोविन्दजी की पूजा बड़ी भक्ति और निष्ठा के सहित कर रहा था। युवावस्था प्राप्त करने पर वह और भी प्रियदर्शन हो उठा। परन्तु विधि का विधान खंडन करने की क्षमता कभी कोई नहीं रखता। विवाह के कुछ ही दिनों के बाद अक्षय कठिन रोगसे पीड़ित हुआ और थोड़े ही दिनों में इस संसार को त्याग कर चल दिया।

सन् १८७४ ई० के अप्रेल मास में श्री श्री माताजी का दक्षिणेश्वर में द्वितीय शुभागमन हुआ। इस बार दक्षिणेश्वर आते समय रास्ते में उन्हें एक भयावह विपद् का सामना करना पड़ा था। साथियों के साथ वे पैदल ही आ रही थी। उस दिन संध्या समय वे एक भीषणाकार डकैत के सामने उपस्थित हुईं। माँ उस समय एकदम ही असहाय थीं, क्योंकि उनके पास में उनके साथियों में से कोई भी नहीं था। परन्तु इस घोर आपदा में भी कुछ भी विचलित न हो उन्होंने इस हत्यारे डाकू और उसकी स्त्री को पिता और माता कह कर सम्बोधन द्वारा प्रसन्न कर अपनी असहाय दशा की बात उन्हें विदित कराकर उनकी शरण की प्रार्थना की। श्री श्री सारदा देवी के इस सरल वर्ताव से पाइक* दम्पति का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने उन्हें अपनी पुत्री जैसी शरण देकर दूसरे दिन उनके साथियों के पास पहुँचा दिया। इस तरह उनके सम्पर्क में आकर इस डकैत और उसकी पत्नी का जीवन एक सम्पूर्ण नई धारा में प्रवाहित हुआ।

दक्षिणेश्वर पहुँच कर श्री श्री माताजी पहले जैसा ठाकुर की जननी के साथ महवतखाने की कोठरी में रहने लगीं। करीब एक साल दक्षिणेश्वर में रहने के उपरान्त वे हठात् कठिन अमाशय (पेचीस) रोग ग्रस्त हो गईं और व्याधि नहीं घटने के कारण मैके आकर गांव की देवी सिंगवाहिनी के मंदिर में अनशन कर पड़ी रहीं। देवी ने प्रसन्न होकर दवा का निर्देश दिया और उसे खाते ही रोग से छुटकारा पा गईं। इस घटना के कुछ ही दिनों के बाद ठाकुर की जननी श्रीमती चन्द्रमणि देवी दक्षिणेश्वर में ८५ वर्ष की आयु में इस संसार से विदा हुईं।

---

* बंगाल के एक अस्पृश्य नीचे जात के लोग जिनकी जीविका लुटमार इत्यादि थी।

भक्त-समागम

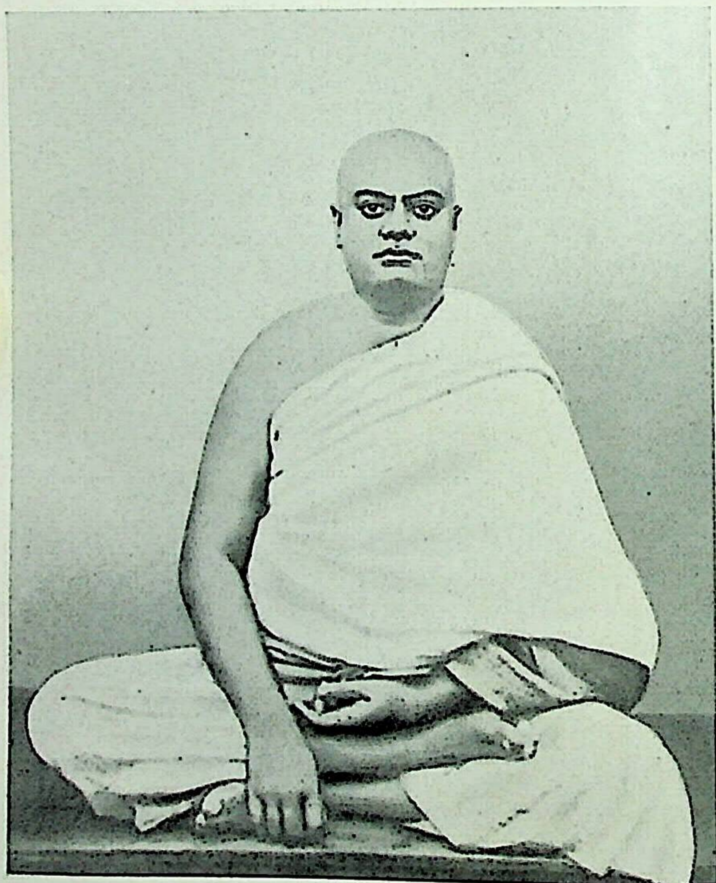
ठाकुर ने ध्यानावस्था में अपनी दिव्य दृष्टि से कभी देखा था कि शीघ्र बहुत-से त्यागी अंतरंग भक्त, धार्मिक गृहस्थ और प्रतिभा वाले शिक्षित नर-नारी धर्मलाभ के लिये उनके पास आवेंगे। अब उन्हें देखने की तीव्र व्याकुलता का अनुभव होने लगा। सन्ध्या समय उनकी यह व्याकुलता इतनी बढ़ जाती थी कि उसे सहने में असमर्थ हो बाबुओं की कोठी के छत पर से चिल्लाकर सबों को पुकारते। विश्व-हित के उन्माद ने उन दिनों ठाकुर के व्याकुल स्वर का आह्वान सभी दिशाओं में प्रतिध्वनित हो सारे विश्व में सनसनी पैदा कर दी। क्रमशः भक्तों के समागम से दक्षिणेश्वर मुखरित हो उठा।

पहले ही कहा जा चुका है कि ठाकुर विभिन्न समाज के श्रेष्ठ एवं चिन्ताशील व्यक्तियों से स्वतः ही मिलकर सत्प्रसंगादि द्वारा उन दिनों की समाज की विचार-धारा से परिचित होना पसन्द करते थे। सन् १८७५ ई० के मार्च मास में ठाकुर हृदय को साथ लेकर भारतीय ब्रह्म-समाज के नेता, प्रख्यात वक्ता एवं धार्मिक केशवचन्द्र सेन के दर्शन केलिये बेलघरिया नामक स्थान में जयगोपाल सेन के उद्यान-भवन में गये थे। भगवत्-प्रेम में मतवाले ठाकुर के हृदयहारी उपदेश और सरल तथा मधुर व्यवहार से मुग्ध हो उस समय से श्रीयुत केशव कीर्त्तन करते हुये कभी-कभी दक्षिणेश्वर में ठाकुर से मिलने लगे और ठाकुर भी कभी-कभी केशव के कलकत्ते के "कमलकुटीर" में उपस्थित हो मातृनाम-गान और सत्संग से सबों को आप्यायित करते थे। क्रमशः दोनों में प्रीति का सम्पर्क इतना दृढ़ और घनिष्ट हो गया कि केशव मुक्तकण्ठ ठाकुर की अमृत-सदृश उदार वाणी का सर्वसाधारण में प्रचार कर धर्म-तृष्णा मिटाने के लिये सबों का आह्वान करने लगे। तदनन्तर ब्रह्म-समाज की सभी बंगला और अंग्रेजी पत्र-पत्रिकायें ठाकुर की ज्ञानगर्भ वाणी

और विचारों की आलोचनाओं से भरी रहती थीं। और भी ठाकुर से मूर्त्ति पूजा का सम्यक् तात्पर्य सुनकर अत्र से वाह्म नेताओं के बहुत-से लोग, साकारोपासना को एक नये दृष्टिकोण से देखना सीखे। वे समझ सके, "ईश्वर के स्वार्थ को केवल साकार कहने से जो दोष होता है, उन्हें केवल निराकार सगुण कहने से भी उसी प्रकार दोष होता है, क्योंकि ईश्वर साकार जगत् के रूप में प्रकट हैं, निराकार सगुण ब्रह्म स्वरूप में विश्व के नियन्ता हैं और फिर सर्वगुणों के परे होकर ईश्वर जीव जगत् इत्यादि सभी व्यक्ति और वस्तु के नामरूप समन्वित प्रकाश का आधार बनकर सदा विराजमान हैं।"

श्री प्रतापचन्द्र मजुमदार ने दक्षिणेश्वर में आकर ठाकुर का पवित्र संग प्राप्त कर किसी समय कहा था, "इनको देखने के पहले हम धर्म-जीवन किसे कहते हैं, क्या जानते थे ? इनके दर्शन के बाद समझ सका हूँ कि यथार्थ धर्म-जीवन किसे कहते हैं।" केशवचन्द्र के प्रति ठाकुर का प्रेम इतना गहरा हो गया था कि सन् १८८४ ई० के जनवरी मास में केशव-चन्द्र के निधन के कुछ दिन बाद दुःख प्रकट करते हुये कहा था, "वह खबर (केशव की मृत्यु की खबर) सुनकर मैं तीन दिनों तक बिछौने से उठ नहीं सका। ऐसा मन में होता था कि मेरा एक अंग (लकवा मारने से) गिर गया है।"

इस प्रकार ठाकुर सबों में धर्मबुद्धि जाग्रत करने के उद्देश्य से और समाज शरीर में उनके नवीन उदार धर्मभाव संचार करने के लिये पण्डिताग्रगण्य ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, हिन्दू-धर्म-प्रचारक शशिधर तर्क-चूड़ामणि आदि विचारशील व्यक्तियों से कभी दक्षिणेश्वर और कभी अन्यत्र मिलने लगे। श्याम-श्यामा शिव का मिलन केन्द्र सिद्ध साधनपीठ दक्षिणेश्वर सागर संगम सदृश महातीर्थ में परिणत हो गया। इस पुण्य-तीर्थ का सन्धान (सन्देश) पाकर भटके हुये थके-माँदे नर-नारी झुण्ड



स्वामी विवेकानन्द

के झुण्ड आकर इसके पवित्र जल में अवगाहन कर कृतार्थ होने लगे।

पूर्वोक्त मनीषियों के अतिरिक्त और जो अंतरंग गृहस्थ भक्तों ने इस समय ठाकुर की पुकार को सुनकर उनके पवित्र संसर्ग में आने का सौभाग्य प्राप्त किया। उनमें भक्तश्रेष्ठ रामचन्द्र दत्त, मनमोहन मित्र, बथराम बसु, महेन्द्रनाथ गुप्त, (वचनामृत के लेखक "श्री मा" या मास्टर महाशय) दुर्गांचरण नाग, महाकवि गिरीशचन्द्र घोष, सुरेन्द्रनाथ मित्र इत्यादि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त और भी अगणित गृही-भक्त ठाकुर के दुर्जय आकर्षण से दूर-दूर से आकर उनके चरणों में शरण लेने लगे और अपने-अपने जीवन की समस्याओं का समाधान कर जीवन के परिपूर्ण विकास का उत्तम पाथेयका संग्रह कर धन्य होने का सुअवसर प्राप्त किया।

सन् १८८१ ई० में ठाकुर के शुद्धसत्व वैराग्यवान् त्यागी लीला-सहचरगण एक-एक कर उनके पास आने लगे। आगे चलकर इनमें जिन्होंने संन्यासव्रत धारण कर रामकृष्ण संघ के स्तम्भ सदृश हो धर्म-जिज्ञासुओं का आध्यात्मिक कल्याण किया है एवं त्याग और सेवा के उन्नत आदर्श सर्वसाधारण के समक्ष स्थापित कर रामकृष्ण संघ जीवन को महियामण्डित किया है, श्री रामकृष्ण के भाव के वाहक थे संन्यासी साक्षात सारे विश्व के श्रद्धेय हैं। इन त्यागी भक्तों के आगमन की प्रतीक्षा में ठाकुर किस तरह व्याकुल रहते थे, इसका कुछ आभास इसके पूर्व किया गया है। इन कुमार वैराग्यवान् युवकों में जो आगे चलकर श्रीरामकृष्ण की वाणी का प्रचार देश-देशान्तर में करने का मुख्य यन्त्रस्वरूप हो गये थे, उनका नाम था श्री नरेन्द्रनाथ दत्त। ये ही समय पर विश्व-प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द के नाम से परिचित हुये थे। उनके साथ श्रीरामकृष्ण की दिव्य-लीला का कुछ आभास देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

श्री नरेन्द्रनाथ पाश्चात्य शिक्षा में शिक्षित हो एक विकट संकटपूर्ण दशा में आ पड़े थे। एक ओर प्राच्य का सर्वसहनशील आस्तिक्यवाद और सार्वभौमिक सनातन अध्यात्मिक आदर्श और दूसरी ओर पाश्चात्य की जड़ जिज्ञासा की दुन्दुभि-ध्वनि। सत्य के सन्धानी नरेन्द्रनाथ पाश्चात्य भाव से प्रभावित होने पर भी आत्मविस्मृत न हुये। धीर कदम से सत्य की खोज में अभियान् आरम्भ किया। ऐसी दशा में साधक शिरोमणि श्रीरामकृष्ण के सन्धान में एक दिन दक्षिणेश्वर गये। उन्हें देखकर पाश्चात्य शिक्षा-प्रदीप्त नरेन्द्रनाथ के कण्ठ में प्रश्न ध्वनित हुआ, "आपने भगवान का दर्शन किया है ?" शान्त, परन्तु दृढ़ स्वर में श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "हाँ, मैंने उनको देखा है, जैसा तुम्हें देख रहा हूँ उससे भी स्पष्ट रूपेण उनका प्रत्यक्ष किया है।" निर्वाक् विस्मय में नरेन्द्रनाथ ने उत्कर्ण होकर ये वचन सुने। नरेन्द्रनाथ की पलकरहित मुग्ध दृष्टि पुजारी के पवित्र मुखमण्डल पर निबद्ध हुई। शिष्य के श्रद्धानत मस्तक पर प्रेमिक पुरुष ने वरदहस्त रखकर प्रेमपूर्ण आशीर्वाद किया। श्रीरामकृष्ण के पवित्र स्पर्श से नरेन्द्रनाथ का संशय से चञ्चल हृदय का जमा हुआ सन्देह, अविश्वास और नास्तिकता सूर्योदय से अन्धकार का जैसे अन्त हो जाता है, उसी प्रकार क्रमशः दूर हो गया और उज्ज्वल ज्ञानालोक से उनका हृदय तथा मन उद्भासित हो उठा।

इस प्रसंग में आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द (नरेन्द्रनाथ) अपने गुरु श्रीरामकृष्ण से जिस तरह सेवा, धर्म के गूढ़ तात्पर्य को जान सके, वह घटना विशेष तरह से स्मरण योग्य है। सन् १८८४ ई० की घटना है, श्री रामकृष्ण दक्षिणेश्वर में अपने कमरे में भक्तों के बीच बैठे हुये हैं। वैष्णव धर्म की आलोचना के क्रम में उस धर्म के सारे मर्म को ठाकुर संक्षेप में समझाते हुये कह रहे हैं, "नाम में रुचि, जीव पर दया, वैष्णव सेवा है। इसी की व्याख्या करते हुये "कृष्ण का ही जगत् संसार

इसी बोध में सभी जीवों में" कहते हुये सहसा समाधिस्थ हो गये। बाद में ऊर्द्धवाह्य दशा प्राप्त हो कहने लगे, "जीव पर दया, जीव पर दया, दूर शाला। कीटाणुकीट तू जीव पर दया करेगा ? दया करने वाला तू कौन ? नहीं, नहीं, जीव पर दया नहीं, शिव के बोध में जीव की सेवा।"

उपस्थित भक्तों ने ठाकुर द्वारा भाव के आवेग में उच्चारित इस महावाक्य को सुना तो सही, परन्तु नरेन्द्रनाथ ही उसका यथार्थ मर्म समझने में समर्थ हुये। वे समझे कि बन के बेदान्त को घर में लाया जा सकता है। कमरे से बाहर आकर नरेन्द्रनाथ गुरु भाइयों से बोले कि उन्होंने ठाकुर के बचन में आज नवीन आलोक का सन्धान पाया है। ठाकुर ने द्वैतवादी की भक्ति और अद्वैतवादी के ज्ञान का एक महान सामंजस्य का विधान किया है। योगी साधु संन्यासी निर्जन अरण्य में गिरि-गह्वर में बैठ जिस अद्वैत ज्ञान की साधना करते हैं, उसी ब्रह्म-तत्व को समाज के विभिन्न स्तरों में रहते हुए सभी अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य में उपलब्ध कर धन्य हो सकते हैं। एक ही ईश्वर जीव और जगत् के रूप में नाम एवं रूप के माध्यम से विचित्र भाव से प्रकट हैं। जो शिव के बोध में जीव की सेवा कर सकेंगे वे ही समय पर अपने को शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव जानने में समर्थ होंगे। उनका प्रत्येक कर्म उपासना के सदृश हो जायगा। भविष्य में स्वामीजी ने स्वरचित "सखा के प्रति" कविता में इस अनुभूति को मर्मस्पर्शी भाषा में लिखित रूप में रख छोड़ा है :—

"ब्रह्म से कीट परमाणु, सवभूत में वही प्रेममय।
सखे, करो प्राण मन शरीर-अर्पण इन सबों के चरणों पर॥
बहुरूप में जो सन्मुख तेरे इन्हें छोड़ कहाँ ढूंढ़ोगे ईश्वर को।
जो करे जीव से प्रेम वही करता है सेवा ईश्वर की॥"

जीव में शिवबोध ठाकुर श्री रामकृष्ण के मन में कितना स्वाभाविक था, निम्नोक्त घटना वही दर्शाती है।

"मथुरा के साथ काशी, वृन्दावन आदि तीर्थों के दर्शन की यात्रा में वैद्यनाथधाम के निकट एक गांव से जाते हुए गांववालों के दुःखदारिद्रय देखकर बाबा (श्रीरामकृष्ण) का हृदय करुणा से पिघल गया। उन्होंने मथुरा से कहा, "तुम तो मा के दीवान हो। इनके बालों के लिये तेल, एक धोती और भरपेट एक दिन के भोजन का प्रबन्ध कर दो।" मथुरा ने पहले तो कुछ अनमनाते हुए कहा, "बाबा, तीथ में बहुत खर्च होगा, यह भी देखता हूँ कि बहुत से लोग हैं—इन्हें खिलाने पिलाने से रुपये घट जा सकते हैं। ऐसी दशा में क्या कहते हैं!" यह बात सुने कौन? ग्राम-वासियों के दुःख देखकर बाबा की आँखों से अनवरत आंसुओं की धारा बह रही है, हृदय में अपूर्व करुणा का आवेग है। उन्होंने, "दूर शाला, तेरा काशी मैं न जाउँगा। मैं इन्हीं के पास रहूंगा, इनका कोई अपना नहीं है, इन्हें छोड़कर नहीं जाऊँगा।" यह कह कर बालक जैसी जिद्द में दरिद्रों के बीच जा बैठे। उनकी वैसी करुणा देखकर मथुरा ने कलकत्ते से कपड़ा मंगाकर, "बाबा" के कहे के मुताबिक काम करवाये। बाबा भी गांववालों का आनन्द देखकर खुशी में फूलकर हँसते-हँसते उनसे विदा हो मथुरा के साथ काशीजी गये।"*

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि परमहंस देव के विचार में तीर्थदर्शन से नरनारायण की सेवा छोटी नहीं।

गोपाल की माँ और महिला भक्त वृन्द

पूर्वोक्त मनीषियों और गृही तथा त्यागी भक्तों के अतिरिक्त जिन आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न महान् महिलाओं ने इस समय ठाकुर श्रीकृष्ण

*उद्धरण श्री श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग, गुरुभाव पूर्वार्द्ध—पृ० २४४-२४५

को केन्द्र बनाकर अपने जीवन का गठन कर लिया था, उनमें गोपाल की माँ (श्रीमती अघोरमणि देवी) योगीन माँ (श्रीमती योगीन्द्र मोहिनी विश्वास), गोपाल माँ (श्रीमती गोलाप सुन्दरी देवी) इत्यादि का नाम चिरस्मरणीय बन गया है। यहाँ पर ठाकुर की अन्तरङ्ग भक्त-साधिका श्रीमती अघोरमणि देवी (गोपाल की माँ) के भक्ति मंडित जीवनवृत्त की केवल दो घटनाओं का उल्लेख किया जा रहा है।

अघोरमणि थी एक दरिद्र ब्राह्मण की पुत्री। बचपन में ही उनका विवाह हो गया था। कुछ दिनों के बाद वे विधवा हो गईं। यही बालविधवा गंगातट पर एक देवालय में शरण पाकर बड़ी निष्ठा के साथ भगवान की गोपाल मूर्ति की उपासना एकाग्र चित से करने लगीं। इसी तरह उनके जीवन के तीस साल से अधिक बीत गये। इसी समय दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में एक सिद्ध साधक रहते हैं, सुनकर एक दिन उनके दर्शन के लिये वहाँ गईं। इस प्रकार इस सौभाग्यवती साधिका के जीवन में पहले पहल ठाकुर के दर्शन हुए। प्रथम दर्शन के दिन से साधिका ब्राह्मणी अपने हृदय में परमहंस देव पर एक प्रबल आकर्षण का अनुभव करने लगी। जिसके कारण इन्हें अब अक्सर दक्षिणेश्वर आना पड़ता था। इस तरह और कुछ दिन बीतने पर एक दिन रात के अन्तिम प्रहर में जप में निरत ब्राह्मणी ने सविस्मय देखा, परमहंस देव उनकी बगल में बैठे हुए हैं—दाहिना हाथ मुठ्ठी बन्धा हुआ अधरों पर मन्द-मन्द हास्य। साहस कर ब्राह्मणी ने ज्योंहीं अपने बायें हाथ से दाहिने हाथ को छुआ एक अभावनीय परिवर्त्तन हो गया। परमहंस-देव की मूर्ति कहाँ विलीन हो गई और उनके स्थान में "नवीन नीरद-श्याम नीलेन्द्रवरलोचनम्" बाल गोपाल मूर्ति घुटनों के बल चलती हुई ब्राह्मणी की गोद पर आने की चेष्टा कर रही है। यह देखकर अपार आनन्द में आत्मविस्मृत हो ब्राह्मणी ने गोपाल को अपनी छाती से

चिपका लिया। साथ-साथ गोपाल के सैकड़ों दुलारों ने उन्हें विह्वल बना दिया। उस आनन्द की प्रबल तरंगों में ब्राह्मणी की सारे संसार की सुध जाती रही और अपने बारे में भी उन्हें कोई होश नहीं रहा। वे गोपाल को छाती से चिपका कर चली दक्षिणेश्वर। अर्थहीन ऊर्द्ध्व दृष्टि, आँचल धूल में लोट रहा है, मुख में "गोपाल गोपाल" की रट, इस दशा में एकदम श्री श्रीठाकुर के कमरे में आ पहुँची। ठाकुर ने भी उन्हें कितने स्नेह से दिन भर अपने पास रखा और हाथों से भोजन कराया। संध्या समय फिर गोपाल को वक्ष में लगाकर वे कमरहाटी लौट आईं। उनके जीवन में एक अपूर्व आध्यात्मिक प्रवाह दो माह तक अप्रतिहत चलता रहा। उसके बाद जब वे समझीं कि उनके इष्ट और ठाकुर अभिन्न हैं तब क्रमशः यह भाव शान्त होता गया। तभी से ठाकुर को वे गोपाल कहकर पुकारती थीं, ठाकुर भी उन्हें गोपाल की माँ कहकर सम्बोधित करते थे। इतने दिनों में उनका गोपाल की माँ का नाम सार्थक हुआ।

श्यामपुकुर में

ठाकुर को केन्द्र बनाकर दक्षिणेश्वर में एक बड़ी सी भक्तगोष्ठी बन गई। दिन-ब-दिन बहुत से नर नारी शान्ति प्राप्त करने के लिये उनके अभय प्रदायी चरणों की शरण में आने लगे। ठाकुर जानते थे कि विभ्रान्त जनसमाज के सामने त्याग और सेवा के उच्च आदर्श की स्थापना किये बिना उन्हें अमृत-पथ के यात्री नहीं बनाया जा सकता। इसलिए उन्होंने अविवाहित कुमार वैराग्यवाले युवकों के धर्म जीवन के गठन का अधिक ध्यान दिया। ठाकुर कहा करते थे, "सोलहों आना मन नहीं देने से ईश्वर के पूर्ण दर्शन कभी नहीं हो सकते। बालकों का मन संपूर्ण उनके अपने पास हो, स्त्री, पुत्र, धन, सम्पदा, मान, यश आदि

पार्थिव विषयों में बिखर नहीं गया है। अभी से यत्न करने से सोलहों आना मन ईश्वर पर अर्पण कर उनके दर्शन पा कृतार्थ हो सकेंगे, इसी कारण इन्हें धर्म-पथ पर परिचालित करने में मेरा इतना आग्रह है।"

ठाकुर के विश्राम रहित अथक परिश्रम से उनका बलिष्ठ शरीर, दिन पर दिन दुर्बल होता जा रहा था। सन् १८८५ ई० के ग्रीष्मकाल से वे सहसा गले में एक व्यथा का अनुभव करने लगे। बहुतों की यह धारणा हुई कि ग्रीष्म की कड़ी गर्मी में अत्यधिक बरफ दिए हुए शरबत आदि के पीने और भक्तों के साथ अविरत भगवत् प्रसंग करते रहने के कारण इस तरह के दर्द का उद्भव हुआ है। परन्तु इस कठिन बिमारी के रहते हुए भक्तों के बहुत आग्रह करने के कारण ठाकुर वैष्णवों के पानीहाटी के प्रसिद्ध महोत्सव में (रघुनाथ दास का चूड़ा का महोत्सव) भाग लेने गये, वहाँ पहुँचते ही कीर्तनानन्द में और उद्दाम नृत्य में मस्त हो गये। दोपहर की कड़ी धूप में देर तक इस प्रकार रहने के कारण उनके गले का दर्द और भी बढ़ गया। अनुभवी चिकित्सकों ने अच्छी तरह से रोग की परीक्षा के बाद निर्णय किया कि धर्मयाचकों को जो कंठ व्याधि होती है वही व्याधि (Clergyman's sore throat) उन्हें भी हुई है। क्रमशः गले से खून निकलने लगा। रोग अत्यधिक बढ़ जाने के कारण उनकी चिकित्सा का उत्तम प्रबन्ध करने के लिए नरेन्द्रनाथ, गिरीशचन्द्र घोष, महेन्द्र गुप्त आदि सबों ने श्यामपुकुर महल्ले में मकान किराया लेकर सन् १८८५ ई० के अक्टूबर माह के मध्य भाग में ठाकुर को ले आये और उन दिनों के प्रसिद्ध होमियो-पैथिक चिकित्सक डा० महेन्द्रलाल सरकार की चिकित्सा में रखा। जब उदारचित्त डा० सरकार जान गये कि भक्तगण बड़े कष्ट से अर्थ व्यवस्था कर ठाकुर की चिकित्सा करवा रहे हैं, उन्होंने कहा, "मैं बिना पारि-श्रमिक लिये यथासाध्य इनकी चिकित्सा कर तुमलोगों के सत्कर्म में

सहायता करूंगा।" पथ्य इत्यादि की जिम्मेवारी श्री श्री माताजी ने साग्रह ले ली और श्यामपुकुर के मकान की कोठरी में चुपचाप निस्तब्ध रहती हुई अपना कर्त्तव्य करती रहीं। नरेन्द्रनाथ द्वारा प्रेरित हो चार-पाँच युवक भक्त भी अपने अभिभावकों के नाना प्रकार के बाधा तथा निषेधों पर भी अपने परमाराध्य गुरुदेव की सेवा में लग गये। डा० सरकार भी ठाकुर के उदार धर्म मत और गम्भीर आध्यात्मिक भाव से इतने प्रभावित हो गये कि श्यामपुकुर में आकर घण्टों ठाकुर के अमृतोपम उपदेश मंत्रमुग्ध जैसे सुनते रहे थे। चिकित्सा एवं सेवा नियमित रूप से होती रही। परन्तु ठाकुर के श्यामपुकुर में ठहरने का संवाद कलकत्ते के लोगों से छिपा नहीं रहा। झुण्ड के झुण्ड अमृत के प्यासे नर-नारी वहाँ आकर भीड़ जमाने लगे। अहेतुक कृपासिंधु ठाकुर चिकित्सकों के मना करने पर भी निरन्तर भक्तों के धर्म प्रसंग में समय बिताने लगे। मानव-कल्याण के लिये ही जिन्होंने नर-देह धारण किया, वे देहात्मबुद्धि से प्रेरित हो शरीर की चिन्ता में अपने कर्त्तव्य करने से विमुख रहेंगे, यह कल्पनातीत है। चिकित्सक लोगों ने परीक्षा कर इसे असाध्य रोहिणी (cancer) रोग निर्धारित किया था और चिकित्सा तदनुसार हो रही थी।

इस समय की एक विशेष घटना से भक्तों का दृढ़ विश्वास हुआ कि ठाकुर केवल अतिमानव मात्र नहीं, परन्तु आध्यात्मिक जगत् का परम आश्रय जीवों की परमगति—मानव, महाशक्ति के अवतार हैं। घटना इस प्रकार थी कि प्रतिवर्ष जैसा श्री श्री शारदीया पूजा के बाद इसबार श्री श्री काली पूजा का दिन निकट आ गया। एक भक्त की प्रबल इच्छा थी कि श्यामपुकुर के इस मकान में प्रतिमा लाकर काली पूजा की जाय। परन्तु ठाकुर का रोग इससे बढ़ जा सकता है, इस आशंका से भक्तों में बहुतों ने इसमें प्रोत्साहन नहीं हुआ। पूजा के एक दिन पहले ठाकुर

ने कुछ विशिष्ट भक्तों को सहसा बुलाकर कहा, "पूजा का उपकरण सब संक्षेप में संगृहीत करो—कल काली पूजा करनी होगी।" ठाकुर के श्रीमुख से निर्गत आदेश सुनकर भक्तों के आनन्द और उत्साह की सीमा नहीं रही। नियत दिन पर उन लोगों ने यथाविधि गन्ध, पुष्प, दीप, फलफूल, मिष्टान्न आदि पूजा के उपकरण लाकर ठाकुर की शय्या के पास सजाकर रखे। पूजा का शुभ क्षण आ गया। धूप गन्ध से सुवासित प्रकोष्ठ उज्ज्वल दीपालोक से उद्भासित हो रहा था। वह सारे स्थान में एक अभूतपूर्व भाव गम्भीर परिवेश हो गया है। जगत-जननी की चिन्ता में मग्न भक्तगण ठाकुर के प्रदीप्त मुखमंडल की ओर टकटकी लगाये हुये हैं। हठात् भक्तवीर गिरिशचन्द्र के मन में यह बात आई कि ठाकुर स्वयं ही पूजा ग्रहण कर भक्तों को धन्य करेंगे, इसी-लिये यह पूजा का आयोजन है। यह भावना मन में उदित होते ही भावोन्मत्त हो उन्होंने दोनों हाथों में पुष्प चन्दनादि लेकर उच्च स्वर में मातृनाम का उच्चारण कर ठाकुर के चरणों में अंजलि अर्पण की। ठाकुर के सारे देह में रोमांच हो गया और मुखसरोज और भी उज्ज्वल हो उठा। ठाकुर गम्भीर भावाविष्ट हो गये और साथ-साथ दोनों हाथों को प्रसारित कर वराभय मुद्रा धारण की। भक्तगण ठाकुर में भवतारिणी का आविर्भाव प्रत्यक्ष कर उल्लास में "जय माँ" ध्वनि करते हुये ठाकुर को जगज्जननी के बोध में सचन्दन पुष्पाञ्जलि प्रदान करने लगे। थोड़ी-देर बाद स्वाभाविक दशा प्राप्त होने पर भक्तों की तृप्ति के लिये निवेदित मिष्ठान्नादि से थोड़ा-सा ठाकुर ने अपने हाथों से लिया और सबों को विवेक वैराग्य ज्ञान भक्ति की वृद्धि के लिये मन भर आशीर्वाद दिया।

श्यामपुकुर रहते समय ही ठाकुर ने एक दिन देखा कि विविध क्षतसंयुक्त सूक्ष्म शरीर अन्नमय कोष से निर्गत होकर बाहर विचरण कर रहा है। इस अद्भुत दर्शन से विस्मित होकर ठाकुर अपने सूक्ष्म शरीर

का निरीक्षण कर रहे हैं। श्री श्री जगदम्बा ने उन्हें दिखाया कि जितने कुकर्मी उनके स्पर्श से पवित्र और धन्य हुये हैं, उनके अनेक पापों से उनके शरीर में क्षतरोग का सृजन हुआ है। ठाकुर के श्रीमुख से इस आश्चर्य दर्शन के बारे में सुनकर भक्तगण विशेष सावधान हो गये कि ठाकुर के पाद पद्म कोई स्पर्श न कर सके।

भक्तों के साथ ठाकुर की लीला अनवरत चलती रही। दक्ष चिकित्सकों की चिकित्सा से भी रोग तनिक भी नहीं घटा। और भी भक्तों के संग दिन रात अविरत सत्प्रसंग करने के कारण उनकी व्याधि दिन व दिन बढ़ने लगी। डा० महेन्द्रलाल सरकार के परामर्शनुसार ठाकुर को शीघ्र किसी निर्जन उद्यानगृह में स्थानान्तरित करने का विचार किया गया। इसी उद्देश्य से ठाकुर के अन्यतम गृही भक्त सुरेन्द्रनाथ-मित्र ने दिवंगत गोपालचन्द्र घोष के काशीपुर के उद्यानगृह को ८०) माहवारी किराये पर लेने का निश्चय किया और स्वयं ही सारे किराये को देने को तैयार हो गये। तदनन्तर १२ वीं दिसम्बर, १८८५ ई० को ठाकुर श्रीरामकृष्ण अपने भक्तों के साथ अपने अन्तिम लीला स्थल इस शान्त स्निग्ध काशीपुर के उद्यान आवास में आ गये।

काशीपुर उद्यानगृह में

काशीपुर उद्यानगृह के मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य को देखकर ठाकुर बहुत प्रसन्न हुये। वहाँ चारदिवारी से घिरी हुई तृणाच्छादित श्याम भूमि पर जगह-जगह पर आम, जामुन और लीची के वृक्ष हैं, अनेकों रंग के सुगन्धी पुष्प और जल से पूर्ण दो जलाशय अपूर्व शोभा बिखेर कर रहे हैं। शहर के अवद्ध परिवेश से एकान्त वातावरण में आकर ठाकुर को कुछ स्वच्छन्दता का अनुभव होने लगा।

यह उन्होंने एक महान् कर्तव्य के सम्पादन में मनोनियोग किया।

नरेन्द्र, राखाल, बाबूराम इत्यादि नवयुवक भक्तों के त्याग और सेवा के उच्च आदर्श में संघवद्ध करने के लिये अधिकारी भेदानुसार इन्हें शिक्षा देने का प्रयत्न करने लगे। क्योंकि वे जानते थे कि उनके उदार धर्मभाव, गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति एवं उच्च त्याग के आदर्श को धारण करने और उसे संसार में प्रचार करने के लिये सनातन सन्यासाश्रम धारी सर्वत्यागी की परम आवश्यकता है। ठाकुर ने नरेन्द्रनाथ से किसी समय कहा था, "माने तुझे अपने काय के लिये संसार में लाया है; मेरे पीछे-पीछे तुझे चलना ही पड़ेगा, तू जायगा कहाँ !" ठाकुर नरेन्द्रनाथ को ही अपने परिकल्पित संघ का नेता नियत कर पहले से ही उन्हीं के जीवन की रचना में तत्पर हुये थे और उन्होंने किस प्रकार भक्तों को उचित पथ पर परिचालित करना होगा इसके बारे में काशीपुर आकर नरेन्द्रनाथ को शिक्षा देना प्रारम्भ किया। नरेन्द्रनाथ भी ठाकुर की सेवा के समय के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर उनके साथ शास्त्रचर्चा, ध्यान, जप, भजन, सदालाप द्वारा अपने हृदय में वैराग्य की अग्नि प्रज्ज्वलित करने लगे।

श्यामपुकर की तरह इस उद्यान में भी श्री श्री माताजी ने ठाकुर के पथ्य आदि प्रस्तुत करने का सारा भार ग्रहण किया। ठाकुर की भतीजी श्रीमती लक्ष्मीदेवी उनकी सहायता करती थीं। नरेन्द्रनाथ और अन्य युवक भक्तों के द्वारा ठाकुर की सेवा समुचित रूप से होती रहे, इस उद्देश्य से समय को बांटकर अपने-अपने निर्धारित काय को करने में लग गये और गृही भक्तों में रामचन्द्र दत्त, गिरिशचन्द्र घोष इत्यादि बहुतेरे इनके साथ होकर अपने-अपने अवसर के अनुसार सेवा यत्न करने में दत्तचित्त हुए। इस तरह सभी कार्य सुसम्पन्न होने लगे। क्रमशः यहाँ भी भक्तों का समागम बढ़ने लगा। वे (श्री रामकृष्णदेव) भी अपने भावामृत की धाराओं से सबों को अभिसिंचित कर उन्हें परम शान्ति का अधिकारी

बनाने लगे। इस प्रकार अत्यधिक परिश्रम से रोग की प्रबलता के कारण ठाकुर का अस्वस्थ शरीर और भी जीर्ण-शीर्ण हो गया। इस समय की एक घटना से ठाकुर की अपार अयाचित करुणा का उज्ज्वल चित्र सबों के सामने उन्मुक्त हो गया।

पहली जनवरी सन् १८८६ ई०—उस दिन अपराह्न समय तीस से भी अधिक गृही भक्त उद्यान में इकट्ठे हुये थे। ठाकुर आज कुछ स्वस्थ अनुभव करने के कारण दो मंजिले से करीब दोपहर को तीन बजे नीचे उद्यान में थोड़ी देर तक टहलने के लिये उतर आये और उद्यान के पथ पर धीरे-धीरे दक्षिण दिशा में फाटक की ओर जाने लगे। गिरीश आदि भक्तगण ने इस तरह ठाकुर को अपने सम्मुख देखकर उन्हें प्रणाम किया। सहसा ठाकुर ने गिरीशचन्द्र से पूछा, "गिरिश, तुम जो सबों को इतनी बातें (मेरे अवतार होने के सम्बन्ध में) कहते फिरते हो, तुमने (मेरे बारे में) क्या देखा और समझा है ?" इस अप्रत्याशित प्रश्न से तनिक विचलित न होकर "पाँच सुक्का पाँच आना" विश्वास रखनेवाले गिरीश ने नतजानु होकर कहा, "व्यास, वाल्मिकि जिनकी इयत्ता नहीं लगा सके, मैं उनके बारे में और अधिक क्या कह सकता हूँ ?" हठात् गिरीश की भक्ति के इस प्रदर्शन से श्री श्री ठाकुर का सारा शरीर सिहर गया। वे गम्भीर समाधि में मग्न हो गये। भाव किंचित् घटने पर समवेत भक्तों को सम्बोधित कर बोले, "तुम्हें और क्या कहूँ, आशीर्वाद करता हूँ तुमलोगों को चैतन्य हो।" विद्युत प्रवाह-सी ठाकुर की आशीर्वाद वाणी ने सबों के हृदय में प्रबल पुलक जाग्रत कर दिया, उनकी शिराओं में एक नवचेतना विपुल वेग से प्रवाहित होने लगी। अनुभूति के गम्भीर राज्य में प्रवेश कर वे अनन्त तथा उल्लास से मत्त हो "जय रामकृष्ण" की ध्वनि से दिक्मण्डल मुखरित करने लगे और ठाकुर के अभयप्रदायी चरणों पर गिरकर उन्हें प्रणाम कर धन्य होने लगे और

कोई-कोई बगीचे से पुष्प लाकर ठाकुर के श्रीचरणों पर अर्पित करने लगे। उच्छ्वासित भाव-तरङ्गों से एक क्षण में वह स्थान एक स्वर्गीय आनन्द से परिपूर्ण हो गया। भावाविष्ट ठाकुर ने भी एक-एक भक्तों के वक्ष स्पर्शन द्वारा उन्हें दिव्य आनन्द का अधिकारी बना दिया। आज ठाकुर के शरीर का रोग न जाने कहाँ भाग गया है। उनकी प्रसन्नता से उज्ज्वल मुखमण्डल पर विमल हास्य "नेत्रद्वयों" में स्वर्गीय करुणा का प्रदीप्त प्रकाश है और देह में पुञ्जीभूत लावण्य का अद्भुत विलास। आज ठाकुर के दिव्य भावोदीप्त प्रेमघन मूर्ति के दर्शन और उनके पवित्र आशीर्वाद प्राप्त कर भक्तवृन्द धन्य एवं कृतार्थ हो गये।

ठाकुर के कण्ठरोग की नाना प्रकारकी चिकित्सा से भी आरोग्यता का कोई लक्षण नहीं देखने में आया। भक्तलोग दुःख के बोझ से दबे हुये हृदय से दिन-रात अविरत उनकी शय्या के पास रहकर सेवा में लगे हुये हैं। ठाकुर की बोलने की क्षमता भी दिन-ब-दिन क्षीण होती गई। तो भी ठाकुर की करुणा का अन्त नहीं, भक्तों को तरह-तरह से उपदेश देने में अभी भी सदा व्यस्त हैं। अपने पर ईशारा कर ठाकुर इस समय एक दिन नरेन्द्रनाथादि भक्तों से जरा-जरा हँसते हुये कहते हैं, "बादल के दल हठात् आये, नाचे, गाना गाया, फिर हठात् चले गये। किसीने उन्हें पहचाना नहीं। कभी-कभी होता है कि और फिर आना न पड़े....... और जो शरीर धारण करना यह है भक्तों के लिये।"

ठाकुर के एक अंतरंग भक्त द्वारा (बूढ़ा गोपाल) त्यागी साधु-सन्तों को गैरिक वस्त्र और रुद्राक्ष की माला दान करने की इच्छा प्रकट करने पर ठाकुर ने अपने नवयुवक भक्तों को दिखाकर कहा, "तुम इनसे उत्तम त्यागी संन्यासी और कहाँ पाओगे ? तुम्हारे गैरिक वस्त्र और रुद्राक्ष की माला इन्हें दो।" श्रीयुक्त बूढ़ा गोपाल ठाकुर की त्यागी सन्तानों को वस्त्रादि देकर कृतार्थ हुये। केवल इतना ही नहीं, एक शुभ

समय में ठाकुर ने उनके लिये एक विशेष क्रिया का अनुष्ठान कर उन्हें मधुकरी भिक्षा करने का निर्देश दिया। नरेन्द्र, राखाल आदि अंतरंग युवक भक्त भिक्षा कर लाये। इस तरह ठाकुर ने पुण्यतीर्थ काशीपुर उद्यान गृह में अपने हाथों से रामकृष्ण संघ की यथार्थ नींव डाली।

नरेन्द्रनाथ निर्विकल्प समाधि के लिये अधैय हो रहे थे। ठाकुर को कईबार उन्होंने अपनी प्रार्थना सूचित भी की थी। ठाकुर ने उन्हें आश्वासन दिया था कि समय पर अखण्ड का द्वार खुल जायगा। आशा, प्रतीक्षा कठोर कृच्छ्र साधना एवं ध्यान-जप में नरेन्द्रनाथ के दिन बीत रहे थे। एक दिन सन्ध्या समय ध्यान पर बैठे नरेन्द्रनाथ का अन्तर्मुखीन निर्मल मन, धीरे-धीरे स्थूल, सूक्ष्म, कारण राज्य के सर्व बन्धनों को छिन्न कर द्वैताद्वैत विवर्जित निर्निकल्प समाधि सागर में विलीन हो गया। बहुत देर बाद प्रकृत अवस्था प्राप्त कर नरेन्द्रनाथ के ठाकुर के समीप उपस्थित होने पर ठाकुर ने उन पर प्रसन्न दृष्टि फेरते हुये कहा, "माँ ने तुझे सब दिखा दिया। परन्तु तेरी इस उपलब्धि पर ताला लगा रहेगा। इसकी कुंजी मेरे पास रही। तू माँ के जिस कार्य के लिये आया है, वह समाप्त होने पर फिर इसे पायेगा।"

महा प्रस्थान

ठाकुर के महाप्रस्थान के आठ नौ दिन पूर्व उन्होंने युवक भक्त योगीन (योगानन्द) को आदेश दिया कि बंगला पंजिकासे ६वीं श्रावण के दिन और तिथि बढ़ते चलो। श्रावण माह की अन्तिम तारीख तक आते ही उन्होंने इशारे से मना किया अब न बढ़ो। इसके चार पांच दिनों के बाद ठाकुर ने नरेन्द्र को एकान्त में अपने कमरे में बुलाया और अपने सम्मुख उन्हें बैठा कर अपलक दृष्टि उन पर निवद्ध कर गंभीर समाधि में मग्न हो गये। नरेन्द्रनाथ को अनुभव हुआ कि प्रचंड सूक्ष्म

अदृश्य शक्ति प्रबल विद्युत प्रवाह जैसा उनके शरीर में प्रवेश कर रही है। उस विपुल वेग को धारण करने में असमर्थ हो नरेन्द्रनाथ शीघ्र वाह्यज्ञान शून्य हो गये। जब वाह्य-चेतना लौटी तब उन्होंने देखा कि ठाकुर अश्रुपूर्ण नेत्रों से उनकी ओर देखते हुये कह उठे, "आज तुझे सब देकर फकीर हो गया। इस शक्ति के सहारे तू जगत का अपार कल्याण करने में समर्थ होगा। कार्य समाप्त होने पर फिर स्वस्थान लौट जायेगा।" ठाकुर अपनी अपूर्व दिव्य शक्ति को नरेन्द्रनाथ के अन्तर में संचारित कर अभी से भाव राज्य में उनके साथ पूर्णतः अभिन्नात्मा हो गये।

इस घटना के दो दिनों के बाद ही नरेन्द्रनाथ के मन में ठाकुर के अवतारत्व में एक सन्देह जाग उठा, वे सोचने लगे, "इस आसन्न मृत्यु समय भी यदि एक बार कह सकें कि, "मैं अवतार हूँ" तभी सन्देह नहीं रहेगा।" अन्तर्यामी ठाकुर नरेन्द्रनाथ के अन्तर में इस भावना के उदित होते ही कह उठे, "अभी भी अविश्वास ! जो राम, जो कृष्ण वे ही अभी इस देह में रामकृष्ण हैं, पर यह तेरे वेदान्त के दृष्टिकोण से नहीं।" इस वचन को श्रवण करने से नरेन्द्रनाथ तथा भविष्य में औरों के सब सन्देह पूर्णरूपेण दूर हो गये।

ठाकुर का जीवन प्रदीप आज प्रायः बुझने जा रहा है। भक्तगण अन्तिम शय्या में सोये हुये ठाकुर के मुख-सरोज का निरीक्षण कर, अपने को कितना असहाय और भाग्यहीन मान रहे हैं। जो उनके दैनन्दिन जीवन की सभी समस्याओं का समाधान कर देगा ? दुःख की यन्त्रणा में समवेदनापूर्ण हृदय से उनके कथित अन्तर में शान्ति का अमृतमय प्रलेप देकर उनकी सारी ग्लानि को दूर कर देगा। उसी कारण दुर्गम कठिन पथ के यात्रीगण आज निस्संग तथा हृतसर्वस्व होने की एक अनिश्चित आशंका के बोझ से दबे जा रहे हैं।

ठाकुर के अन्त लीला क्षेत्र काशीपुर उद्यान में उनके महाप्रयाण के सन्निकट दिन उनकी अपार करुणा और अमित ऐसी शक्ति के प्रकाश की महिमा से उज्ज्वल होते हुये भी, उनके जीवन के धूसर गोधूली लग्न में महाप्रस्थान की तैयारी के स्पष्ट इंगित से भक्तगणों का अन्तर घनीभूत प्रगाढ़ अन्धकार और मर्मभेदी वेदना तथा हाहाकार से भर गया।

आज सन् १८८६ ई० का १५वीं अगस्त है, बंगला १२९३ रविवार, श्रावण संक्रान्ति, ठाकुर का निर्धारित वही अन्तिम दिन आ गया है।

एक भक्त ने ठाकुर की नब्ज देखकर समझा कि उन लोगों के प्राण-पुरुष आज सबों को पारावारहीन समुद्र में छोड़ कर संसार के नाट्य मंच से सदा के लिये विदा होने को प्रस्तुत हो गये हैं। किंकर्त्तव्य-विमूढ़ दशा में भक्तवृन्द उनके बिछावन के चारों ओर खड़े हो चुपचाप आँसू बहाने लगे। क्रमशः सन्ध्या हो गई—ठाकुर सहसा गंभीर समाधि में मग्न हो गये। देह लकड़ी की बनी मूर्त्ति जैसी निश्चल और निस्पन्द। रात के दोपहर बीतने के बाद ठाकुर की बाह्य चेतना लौटी। तीन बार स्पष्ट रूप से जगज्जननी काली का नाम उच्चारण कर बिछौने पर लेट गये। थोड़ी देर बाद सारा शरीर एक प्रबल पुलक से रोमांचित हो उठा। मुखमंडल स्वर्गीय ज्योति से उद्भासित शरीर में अनिर्वचनीय कान्ति। किसी को समझना बाकी न रहा कि यह उज्ज्वल दिव्य प्रकाश प्रदीप के बुझने के समय में रश्मि की शेष झलक मात्र है। आज सन् १८८६ ई० का १६वीं अगस्त सोमवार है। रात्रि प्रभात होने के पूर्व ही युगावतार श्रीरामकृष्ण महासमाधियोग के स्वरूप में विलीन हो गये।

पुण्य सलीला भागीरथी के तट पर काशीपुर श्मशान में ठाकुर का पवित्र शरीर होमाग्नि में स्वाहा हो गया। भक्तगण ठाकुर की पवित्र

अस्थी और देह का भस्मावशेष संग्रह कर काशीपुर उद्यानगृह में लौट आये। तदनन्तर भस्म और अस्थी का अधिकांश तत्काल बलराम बसू के बागबाजार महल्ले के मकान में रखा गया और बाकी अंश कई गृही और नवयुवक भक्तों ने सम्मिलित होकर श्री रामचन्द्र दत्त के कांकुडगा उद्यानगृह में पवित्र जन्माष्टमी तिथि में स्थापना कर यथाविधि नित्य पूजादि का प्रबन्ध किया।

श्री श्रीठाकुर की लीला समाप्त होने से भक्तगण विशेष कर नरेन्द्रनाथ आदि त्यागी नवयुवक किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। परन्तु युग प्रयोजन की एकान्त आवश्यकता के कारण जो श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ, वह व्यर्थ कैसे हो सकता था? कर्णधार के आकस्मिक चले जाने से आरोही जैसे भयभीत हो जाते हैं, श्रीरामकृष्ण उनके आँखों से ओझल होने से त्यागी युवकवृन्द उसी प्रकार विह्वल हो गये। यह विह्वलता जिन्होंने पहिले दक्षिणेश्वर और तदनन्तर श्यामपुकुर और काशीपुर उद्यान-गृह में स्वयं इन त्यागी युवकों को अपना सान्निध्य और अपनी सेवा का अधिकार देकर एक अपूर्व सम्भावनापूर्ण भविष्यत के लिये शिक्षा दी थी, अब से उन्होंने ही नश्वर जीवन की नेपथ्य भूमि से अपनी लीला के संगियों को एक निश्चित लक्ष्य की ओर प्रेरित करना आरम्भ किया।

भक्तप्रवर बलराम बसू के मकान में संरक्षित ठाकुर के दोहावशेष ही में त्यागी भक्तों ने आनन्द भाव समन्वित ठाकुर की जाग्रत सत्ता का अनुभव कर कुछ दिनों में वराहनगर महल्ले के एक टूटेफूटे मकान में ठाकुर द्वारा व्यवहृत सामान को लेजाकर उनकी गद्दी की स्थापना द्वारा श्री श्रीठाकुर को प्रतिष्ठित किया और वे इसी स्थान में वैदिक प्रथानुसार यथाशास्त्र विरजा होम सम्पन्न कर सन्यासी सम्प्रदाय विहित नाम और गैरिक वस्त्र धारण कर पवित्र सन्यास व्रत ग्रहण किये।

विधाता के इंगित बहुतेरे अज्ञात और गूढ़ हुआ करते हैं। इस विषय में भी इस नियम का अपवाद नहीं हुआ। जनता की दृष्टि के अन्तराल में, भागीरथी के तट पर वराहनगर के इस निर्जन, एकान्त और जीर्ण गृह में श्रीरामकृष्णार्पित प्राण धारण करने वाले नवीन सन्यासियों ने शीघ्रही अलौकिक त्याग और तपस्या के एक ज्योति मंडल का सृजन किया। उस समय यह किसी की कल्पना में भी न आया था कि इस ज्योतिमंडल की रश्मि-तरंग निकट भविष्य में भागीरथी की सीमारेखा को पार कर अति दूरस्थ अतलान्तिक की तटभूमि पर टकरायेंगी और साथ-साथ सभी दिशाओं में श्रीरामकृष्ण की समन्वय-सिद्धि की अपूव वार्ता ध्वनित होने लगेगी।

—स्वामी तेजसानन्द

उपनिषत्-संकलन

५



पूर्वाभास

यह सम्पूर्ण पण्डित-समाज पूर्णरूप से मानता है कि संसार में प्रचलित धर्मशास्त्रों में वेद ही प्राचीनतम हैं। और सभी धर्मों की मौलिक बातें वेद में पाई जाती हैं, इसलिये यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वेद ही सभी धर्मों का उत्पत्ति स्थान है। मनुष्य रचित किसी भी ग्रंथ से वेद की तुलना नहीं हो सकती। वेद कोई मनुष्य रचित ग्रंथ नहीं है। लिखने की पद्धति आविष्कृत होने के बहुत पूर्व से ही वेद प्रचलित हैं। वेद के मन्त्रों को शिष्य गुरु से सुनकर लिख लेता था। इस कारण वेद का और एक नाम है श्रुति। चुंकि कण्ठस्थ करने के सिवाय वेद-रक्षा का दूसरा उपाय नहीं था, इसलिये द्विज जातियों के लिये वेद का नित्य गान अनिवार्य था और वैदिक यज्ञादि में बहुत से नित्यकर्म सम्मिलित थे।

ऐसा कथित है कि प्रत्येक महाप्रलय के बाद नवीन सृष्टि करने के लिये सृजनकर्ता ब्रह्मा ध्यान में बैठते हैं, तब उनके पास वेद प्रकटित होते हैं। इस वेद की सहायता से पूर्व युगों के क्रम में वे पुनः नवीन सृष्टि की रचना करते हैं। और वे ही पहले-पहल ऋषियों को वेद की शिक्षा देते हैं।

वेद कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन दो अंशों में विभाजित है। यागयज्ञादि कर्मकाण्ड के विषय हैं। उपनिषद् को ज्ञानकाण्ड कहा जाता

है। सभी उपनिषद् किसी-न-किसी वेद के अंग हैं। वेदान्त कहने से भी सामान्यतः उपनिषद् का ज्ञान होता है। उपनिषद् समूह वेद के अन्तिम अंश में स्थापित हैं।

वेद के उपनिषद् अंश को ज्ञानकाण्ड सम्भवतः इस कारण से कहा जाता है कि उपनिषदों के मन्त्रों में ही परमज्ञान या ब्रह्मविद्या का संधान मिलता है।

वेद कोई विशेष जाति का निजी धर्मशास्त्र नहीं है। समग्र मानव-जाति का इसपर समान अधिकार है। भारतीय आर्य-सन्तानों के गौरव का विषय यह है कि जिस किसी कारणवश क्यों न हो, वेद की रक्षा और उसके प्रचार का दायित्व मौलिक रूपेण उन्हीं का है।

प्रार्थना

मन की आन्तरिकता के परे कोई महत् कार्य सिद्ध नहीं होता है। इसलिये किसी महत् कार्य के प्रारम्भ में मन की चञ्चलता को हटाने के लिये किसी एक महान शक्तिशाली देवता का स्मरण करने की आवश्यकता है। महा प्रभावशाली देवता के प्रति मन आकृष्ट होने से मन का विक्षिप्त भाव दूर होता है और मन शान्त व एकनिष्ठ होकर कर्त्तव्य सम्पादन में उपयोगी होता है। यही प्रार्थना का अन्तर्निहित उद्देश्य है।

ओम् भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा
भद्रं पश्येम अक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवाँसस्तनुभि-
र्व्यंसेम देवहितं यदायुः॥
ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मुण्डक

हे देव! हम लोग जैसे कानों में महावाणी सुनते हैं। हे परमात्मा! हमलोग जैसे आँखों से सुन्दर वस्तुएँ देखते हैं, हमारे अंग-प्रत्यंग या शरीर दृढ़ होते हैं और आपकी स्तुति कर देवनिर्दिष्ट परमायु लाभ करते हैं॥ ओम् शान्ति शान्ति शान्ति[1]॥

१। संसार में तीनों विघ्नों का—अर्थात् आध्यात्मिक (दैहिक कष्ट) आधिदैविक (दैवदुर्घटनाएं) और आधिभौतिक (हिंस्र प्राणी की हिंसा आदि), नाश हो।

ओम् वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्; आविरावीर्म एधि, वेदस्य म आनीस्थः, श्रुतं मे मा प्रहासीः, अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधामि; ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु, अवतु माम्, अवतु वक्तारम्।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ऐतरेय

हमारे वचन मन में प्रतिष्ठित हों। मन ही पुनः वचन में प्रतिष्ठित हो (अर्थात् मन और मुख एक हो)। हे स्वयं प्रकाश ब्रह्म! मेरे सम्मुख प्रकट हो। हे वाक्य और मन! तुम मेरे अन्तर में वेदार्थ लाओ। हम जो सुनते हैं उसको न भूलें। अहोरात्र हम अधीत विषय में स्थिर चित्त रहेंगे। हम सत्य वस्तुएं कहेंगे। सत्य कथन ही कहेंगे। ब्रह्म मेरी रक्षा करें। हमारे आचार्य की रक्षा करें। हमारी और हमारे आचार्य की रक्षा करें।

ओम् शान्ति शान्ति शान्ति।

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारम् अवतु। अवतु माम्, अवतु वक्तारम्।

तैत्तिरीय १।१

हमारे प्रति मित्रदेव और वरुणदेव मंगल करें। अर्यमा (चक्षु और सूर्यमण्डल का अभिमानी देवता) हमारे सुख के विधायक हो। इन्द्र और वृहस्पति हमारे प्रति मंगलप्रद हो। ब्रह्मको नमस्कार। हे वायु तुमको प्रणाम। तुमही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुमही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, यह कहेंगे। तुमही ऋत् व सत्य हो, यह कहेंगे। वे हमारी रक्षा करें। वे आचार्य की रक्षा करें। हमारी रक्षा करें। आचार्य की रक्षा करें।

तत्सवितुर्वरेण्यम्।

मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्तोषधीः।

भूः स्वाहा। भर्गो देवस्य धीमहि।

मधुनक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः
मधु द्यौरस्तु नः पिता।

भुवः स्वाहा। धियो यो नः प्रचोदयात्

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ-३ अस्तु सूर्यः
माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहेति।

वृहदारण्यक ६।३।६

वह सूर्य का भी वरणीय। वायु मधुवाही हो। नदियाँ मधुवाहिनी हों। औषधि मधुमय हो। भूलोक स्वाहा। हम ज्योतिष्मान देव का ध्यान करें। रात व दिन मधुमय हो। पृथ्वीकण मधुमय हो*। जो हमारी बुद्धिवृत्ति को परिचालित करते हैं, उस अन्तरिक्ष लोक को स्वाहा। सोम हमारे प्रति मधुमय हो। सूर्य सुखदायक हो। दिक्समूह शुभदायक हो। द्युलोक स्वाहा ॥

---

* हमारे पितृस्वरूप स्वर्ग मंगलप्रद हो।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

श्वेताश्वतर ४।१२

जो विश्वपालक सर्वज्ञ रुद्र देवों की उत्पत्ति और उत्कर्ष के विधाता, जो ब्रह्मा के भी आविर्भाव के साक्षी है, वे हमको शुभ बुद्धि प्रदान करें ।

मा नस्तोके तनये मा आयुषि
मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
वीरान् मा नो रुद्र भामितोऽवधी-
र्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ॥

श्वेताश्वतर ४।२२

हे रुद्र ! हमलोग सदा के लिये तुम्हारे उद्देश्य में हवन कर रहे हैं । तुम क्रोधी बनकर हमको हमारे पुत्र-पौत्रों का, हमारे पशुओं का और हमारे बलवान अनुचरों का विनाश न करो ॥

शिक्षा

सत्य को जानना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। जो मानव को परिपूर्ण सत्य उपलब्धि के मार्ग में बढ़ा देती है, वही यथार्थ शिक्षा है। सत्य की विमल ज्योति से हृदय का गहरा अन्धकार विदूरित होने पर ही सभी द्वन्द्वों का अवसान होता है। निर्मल शान्ति के अमृत-रस में जीवन परिपूर्ण हो जाता है। सत्य वृहत् व एक और सदा के लिये अम्लान है। इस लिये उपनिषदों ने भूमा स्वरूप ब्रह्म को एक ही सत्यरूप में लिखा है। अतएव उस सत्य को जानने के लिये त्याग, वैराग्य, मनन-शीलता आदि नितान्त आवश्यकीय विषयों के जो अनुकूल है वही यथार्थ शिक्षाप्रद सर्वविध विकारशून्य नाम-रूप-वर्जित अखंड ब्रह्म ही एक सत्य पदार्थ है। यही समग्र उपनिषद् का मूल प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु उस सत्य को जानने से विश्व जगत् में दृश्यमान पदार्थ का मूल तत्व जानना आवश्यक है। जगत के सभी पदार्थों का तत्व विश्लेषण कर अन्त में यह स्थिर होता है कि सत् पदार्थ ही सभी जगहों में विभिन्न नाम-रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। इसलिए जगत का पदार्थ परि-पूर्ण रूप में विश्लेषित नहीं होने पर प्रकृत तत्व प्रतिभात नहीं होता है। इसलिये इन्द्रियग्राह्य पदार्थ को आश्रय बना कर मशः सूक्ष्म तत्व में जाना होगा। ऐसा विश्लेषण करने में वंश, विद्या, चरित्र और साधन-प्राचुर्य-जनित आत्माभिमान त्याग कर श्रेय साधन लाभ की आशा में प्रकृत ब्रह्मज्ञ गुरु का शिष्यत्व ग्रहण करना होगा और श्रद्धा व निष्ठा के सहारे गुरुजी

के उपदेश से तत्व विश्लेषण रूप उपासना के सहारे प्रकृत ब्रह्मज्ञान लाभ करना होगा। इस विषय को उत्तम रूप में समझाने के लिये छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में सनत्कुमार और नारद की कहानी लिखी गयी है। पहले अति स्थूल विषय नाम से शुरू कर कैसे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्व में प्रवेश किया जा सकता है, सोपान-रोहण क्रममें उसको विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया गया है। यह कहानी हृदयग्राही होने पर भी उसका कोई अंश वर्जनीय नहीं है, इसलिये पूरी कहानी यहाँ उद्धृत की गयी है।

ॐ। अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच॥

छान्दोग्य ७।१।१

नारद सनत्कुमारके पास उपस्थित होकर कहता है "हे भगवन्, मुझको शिक्षा दीजिये"। सनत् कुमार कहते हैं तुमने जो कुछ सीखा हो उसको प्रकाश कर शिष्यत्व ग्रहण करो। इसके बाद तुमको मैं शिक्षा दूँगा। नारदने कहा—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि॥

छान्दोग्य ७।१।२

हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्धतत्त्व गणित, नैसर्गिक विद्या, काल सम्बन्धी विद्या, तर्क

शास्त्र, नीति शास्त्र, शिक्षाकल्प आदि वेदांग, जड़ विज्ञान, युद्ध विद्या, ज्योतिष सर्प विद्या, गन्धर्व विद्या आदि पढ़ी हैं।

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तं होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥

छान्दोग्य ७।१।३

हे भगवन्! मैं ये सब पढ़कर भी केवल मन्त्रविद् हुआ हूँ! आत्मज्ञान नहीं लाभ कर सका हूँ। आपकी तरह ज्ञानियोंसे सुना है कि आत्मज्ञ मनुष्य शोकातीत होता है। हे भगवन्! मैं ऐसा शोक कर रहा हूँ। आप मुझको शोकसे पार कीजिये। सनतकुमारने उससे कहा, तुमने जो कुछ सीखा है सभी आक्षरिक विद्याएँ[1] ही हैं।

१। अभिधान या नाममात्र ही मन्त्र रूपसे गृहीत हो सकता है। जिसका जो प्रसिद्ध नाम है उसी नामसे उसका एक मन्त्र है। मुनियोंने कहा कि 'स्वनाम सर्वसत्वानां मन्त्र इत्यभिधीयते" अर्थात्—स्वीय नाम ही सभी पदार्थोंके मन्त्र रूपसे अभिहित होता है। आचार्य शंकरने अपने भाष्यमें कहा—"सर्वो हि शब्दः अभिधानमात्रम्। अभिधानं च सर्वं मन्त्रेषु अन्तर्भवति।" अर्थात् सभी शब्द केवल अभिधान या नाममात्र हैं। अभिधानमात्र ही नाममात्रका अन्तर्भुक्त है। यहाँ फिर लक्ष्य करना होगा कि साधारणतः नाम कहनेसे हमलोग शब्द—यह अर्थ—समझते हैं। प्रकृत पक्षमें यहाँ ऐसा अर्थ नहीं है। वाचारम्भनं विकारो नामधेयं मृत्तिकत्येव सत्यम्। अर्थात् विकार या जन्य पदार्थ मात्र ही नाम रूपात्मक शब्दमय नाममात्र है। एतदर्थ यहाँ 'नामैव" ऐसा कहनेसे ऋग्वेद आदि विद्या,

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास-पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्य-मेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ।।

छान्दोग्य ७।१।४

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, इतिहास, पुराणादि पञ्चमवेद व्याकरण, श्राद्ध तत्व, गणित, नैसर्गिक विद्या, काल विद्या। तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, शिक्षा और कल्पादि, जड़विज्ञान, धनुर्विद्या, ज्योतिष, सर्प विद्या गन्धर्व शास्त्र, ये सभी नाम हैं। नामकी उपासना करो।

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकाम-चारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ।।

छान्दोग्य ७।१।५

ब्रह्मबुद्धिमें जो नामकी उपासना करता है, जितना तक नामकी गति उसकी भी उतनी तक यथेच्छ गति होती है। (नारदने कहा) :—

"नामसे उच्चतर कुछ है क्या ?"

"नामसे उच्चतर कुछ है ही।"

"कृपया मुझसे कहिये।"

विद्याफल आदि सभी अनित्य विनाशी वस्तुओंको समझना होगा। क्योंकि ऐसे कर्मफलकी अनित्यता दर्शनके फलस्वरूप महर्षि नारदके मनमें शोकावेग उपस्थित हुआ है।

वाग् वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं—देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च तृणवनस्पतींश्च श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत् सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।२।१

शिक्षा व कल्पादि जड़ विज्ञान, धनुर्विद्या, ज्योतिष, सर्पविद्या, गन्धर्व शास्त्र, देवलोक, भूलोक, आकाश, जल, तेज, देव वृन्द, मनुष्यगण, पशु समूह, पक्षीगण, तृण व बनस्पति आदि, कीट, पतंग, पिपीलिका आदि, हिंस्र पशुगण, पुण्य और पाप, सत्य व मिथ्या, शुभ व अशुभ, मनोज्ञ व अमनोज्ञ, आदि सभी वाक्से विज्ञापित होते हैं। वाक् नहीं रहनेसे धर्म वा अधर्म नहीं विज्ञापित होता, सत्य या मिथ्या, शुभ या अशुभ मनोज्ञ या अमनोज्ञ कुछ भी प्रकाशित नहीं होता। वाक् इन सभीको जानता है। अतः वाक् की उपासना करो।

१। वागिन्द्रिय वर्णोच्चारणका कारण है, कार्यसे कारण श्रेष्ठ होता है।

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।२।२

ब्रह्मबुद्धिमें जो वाक् की उपासना करता है, जितने तक वाककी गति है उतने तक उसकी स्वच्छन्द गति होती है।" "भगवन्! वाकसे श्रेष्ठतर कुछ है क्या?"

"वाक से श्रेष्ठतर कुछ अवश्य ही है।"

"आप मुझको वह बताइये।"

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छथ इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।३।१

वाक् इन्द्रियसे मन अवश्य ही श्रेष्ठ है।१ मुट्ठीमें जैसे दो आमलकियाँ, दो वेर या दो अक्षयफल (बहेड़ा) घृत होते हैं, वैसे ही मन ही वाक् व नामको परिव्याप्त कर रखता है।

जब कोई मन ही मन सोचता है कि मैं अब मन्त्र पाठ करता हूँ तब वह मन्त्रपाठ करता है। जब सोचता है पुत्र व पशु-कामना करता

१। पहले चिन्ता पर वागिन्द्रियका व्यापार है, अतः मन ही श्रेष्ठ है।

हूँ, तब वह उनको ही लाभ करता है। जब सोचता है—इहलोक परलोक लाभ करता हूँ, तब वह उसको ही लाभ करता है। मन ही आत्मा, मन ही लोक, मन ही ब्रह्म है। ब्रह्म बुद्धि में मनकी उपासना करो।

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।३।२

"मन की जो ब्रह्म रूप में उपासना करता है उसकी मन की गति जितने तक होती है उतने ही तक उसकी यथेच्छ गति होती है। नारद ने पूछा—"हे भगवन्! मन से श्रेष्ठ दूसरा कुछ है क्या?"

सनत्कुमार ने कहा—"मन से श्रेष्ठ वस्तु अवश्य ही है।"

"उसको मुझको बताइये।"

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान् यदा वै सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥

छान्दोग्य ७।४।१

मन से संकल्प महत्तर है। मनुष्य पहले संकल्प करता है, पीछे सोचता है। उसके बाद वाक् परिचालित होता है। इस वाक् को नामोच्चारण में नियुक्त करता है। मन्त्र नाम में और कर्म मन्त्र में एकीभूत होते हैं।

तानि ह वा एतानि सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च तेषां सङ्क्लृप्त्यै वर्षं सङ्कल्पते वर्षस्य सङ्क्लृप्त्या अन्नं सङ्कल्पतेऽन्नस्य सङ्क्लृप्त्य प्राणाः सङ्कल्पन्ते प्राणानां सङ्क्लृप्त्यै मन्त्राः सङ्कल्पन्ते मन्त्राणां सङ्क्लृप्त्यै कर्माणि सङ्कल्पन्ते कर्मणां सङ्क्लृप्त्यै लोकः सङ्कल्पते लोकस्य सङ्क्लृप्त्यै सर्वं सङ्कल्पते स एष सङ्कल्पः सङ्कल्पमुपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।४।२

इस सभी की एक ही गति संकल्प है। संकल्प ही इनका उपादान है और ये संकल्प में प्रतिष्ठित हैं।

द्युलोक व भूलोक, वायु व आकाश, जल व तेज ने मानो संकल्प किया है।१ इनके संकल्प से वृष्टि संकल्प करती है। वृष्टि के संकल्प से अन्न संकल्प करता है, अन्न के संकल्प से प्राण संकल्प करता है। प्राण के संकल्प से मन्त्र संकल्प करता है, मन्त्र के संकल्प से कर्म संकल्प करता है, कर्मफल के संकल्प से जगत संकल्प करता है, यह संकल्प इस प्रकार है। तुम इस संकल्प का उपासक हो।

---

(१) केवल पूर्वोक्त कारणों से संकल्प महत्, यह नहीं है, द्युलोक आदि महतों के अन्तर में उसका स्थान है इसलिये वह महत् है।

स यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान् वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान्। प्रतिष्ठितोऽव्यथमानान् अव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत् सङ्कल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः सङ्कल्पाद् भूय इति सङ्कल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।४।३

जो ब्रह्मबुद्धि से सङ्कल्प उपासना करता है, वह सङ्कल्पित लोकसमूह (अर्थात् स्वयं ही ध्रूव होकर (आपेक्षिक) ध्रूव लोकसमूह प्रतिष्ठावान होकर प्रतिष्ठायुक्त लोकसमूह और दुःखहीन होकर दुःखहीन लोक समूह लाभ करता है।

श्री ब्रह्म रूप में संकल्प-उपासना करता है जितने तक (उसका अपने) संकल्प की गति उतना तक वह स्वच्छन्द गति होता है। नारद ने कहा, "हे भगवन् संकल्प से महत्तर कुछ है क्या ?" सनत्कुमार ने कहा— "अवश्य ही संकल्प से श्रेष्ठवस्तु है ही।"

नारद—"मुझको बताइये।"[१]

---

(१) यहाँ—"संकल्पस्य गतम्" इस श्रुति का अर्थ केवल उपासक का ही संकल्प। परन्तु किसी मनुष्य का किसी विषय का संकल्प नहीं है। क्योंकि पंचम खंड की तीसरी श्रुति में "यावत् चित्तस्य गतम्" ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ— चित्त का जो कुछ विषय है वही समझना होगा। सुतराम् यहाँ साधारण मनुष्य की संकल्प की बात कहने में परवर्ती श्रुति अर्थहीन होती है।

चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥

छान्दोग्य ७।५।१

संकल्प से चित्त महत्तर है। क्योंकि जब किसी विषय में कोई सचे-तन हो जाता है तब वह संकल्प करता है, पश्चात् सोचता है। सोचने के बाद वाक् को परिचालित करता है। पर वाक को नाम में, नामोच्चा-रण में नियुक्त करता है। मन्त्रसमूह नाम में और कर्मसमूह मंत्र में एकीभूत होते हैं।

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद् यद्यपि बहुविद्चित्तो भवति नायमस्तीत्ये-वैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तं ह्येवैषा-मेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।५।२

संकल्प आदि सभी चित्त में लीन होते हैं। चित्त ही उनका उद्भवस्थल हैं और ये चित्त में ही प्रतिष्ठित हैं। सुतराम् बहुशास्त्र अध्ययन कर यदि कोई खूब निर्बोध होते हैं तो इनको मनुष्य कहता है कि "ये रहकर भी नहीं रहे हैं" इनकी विद्या वृथा। क्योंकि ये यथार्थ विद्वान होने से ऐसा निर्बोध नहीं होते थे। पक्षान्तर में अल्प विद्वान मनुष्य यदि बुद्धिमान होता है तो मनुष्य उसकी बात चाव से सुनते हैं।

इन सभी की गति चित्त है। इनका स्वरूप चित्त और इनकी प्रतिष्ठा चित्त में, चित्त की उपासना करो।

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान् वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानान् अव्यथमानोऽभिसिध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।५।३

जो ब्रह्म बुद्धि से चित्त की उपासना करता है वह सुबुद्धि सुलभ गुण समूह से सुसमृद्ध लोकसमूह अर्थात् स्वयं ध्रुव होकर भी ध्रुवलोक समूह में प्रतिष्ठावान होकर भी प्रतिष्ठायुक्त लोकसमूह और दुःख शून्य होकर भी दुःखहीन लोकसमूह लाभ करता है। चित्त को जो ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है, चित्त की गति जितने तक होती है, उनकी स्वच्छन्द गति भी उतना तक होती है।

(नारद)—"भगवन् चित्त से महत्तर कुछ है क्या ?"

(सनत्कुमार)—"अवश्य ही चित्त से श्रेष्ठतर वस्तु है।"

(नारद)—"मुझसे कहिये।"

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद् य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ ये अल्पाः कलहिनः पिशुना

उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।६।१

चित्त से ध्यान गरीयान् है। पृथ्वी मानों ध्यान करती हैं, अन्तरिक्ष मानो ध्यान करता है। द्युलोक ध्यानमग्न है, जल ध्यान में स्थिर है, पर्वत ध्यान में गम्भीर हैं, देव तथा मनुष्य मानो ध्यान निमग्न हैं। इसलिये इहलोक में मनुष्यों के भीतर जो महत् होते हैं वे ध्यान से ही ऐसे होते हैं। फिर जो क्षुद्र वे कलहप्रिय, परदोषान्वेषी और निन्दुक होते हैं। परन्तु जो सद्गुण सम्पन्न हैं वे ध्यान के फल के अंशभागी हैं। अतः ध्यान-उपासना करो।

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद् भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।६।२

जो ब्रह्मबुद्धि से ध्यान की उपासना करता है, जितना तक ध्यान की गति उसका ही उतनी तक स्वच्छन्द गति होती है।

नारद :—"हे भगवन् ध्यान से महत्तर कुछ है क्या ?"

सनत्कुमार—"ध्यान से महत्तर वस्तु है ही।"

नारद—"मुझसे कहिये।"

ध्यान के बारे में पातञ्जल दर्शन में कहा गया है कि 'प्रत्ययैकता ध्यानम्" अर्थात् कोई एक अभिमत विषय में अविरत चित्त का एकाकार

प्रवाह ही ध्यान है। वहाँ यह लक्षणीय है कि, ध्यान के लिये जो विषय अवलम्बन करना होगा वह विषय जैसा मनोरम होना चाहिये वैसा ही शास्त्रोक्त होना चाहिये। जो शास्त्रोक्त होकर भी मन का प्रिय नहीं है या मनोरम होकर भी शास्त्रोक्त नहीं है, वह ध्यान का उपयुक्त अवलम्बन नहीं है।

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च तृणवनस्पतीन् श्वापदान्याकीट-पतंगपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।७।१

'विज्ञान (शास्त्रार्थबोध) ध्यान से महत्तर है'[१] विज्ञान के फलस्वरूप ऋग्वेद अवगत होता है। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पञ्चमवेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्धतत्व, गणित, नैसर्गिकविद्या, कालविद्या,

---

(१) मनुष्य शास्त्रार्थ दृष्टि सहायता से प्रामाणिक रूप से जानते हैं कि ऋग् आदि किस मन्त्र का अर्थ कैसा है। तब वे ध्यान में प्रवृत्त होते हैं। अतः विज्ञान ध्यान से श्रेष्ठ है।

तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, शिक्षाकल्पादि, जड़विज्ञान, धनुर्वेद, ज्योतिष, नागविद्या, गन्धर्वशास्त्र, देवलोक, भूलोक, वायु, आकाश, जलतेज, देववृन्द, मनुष्यगण, पशुसमूह, पक्षीगण, तृण व वनस्पतिसमूह, कीट, पतंग, पिपलिकादि, हिंस्रजन्तुसमूह, धर्म, व अधर्म, सत्य, व असत्य, शुभ व अशुभ, मंगल व अमंगल, मनोज्ञ व अमनोज्ञ, अन्न व स्वाद, इहलोक व परलोक, विज्ञान के सहारे ही जाना जाता है। विज्ञान की उपासना करो।

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो व स लोकान् ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद् विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।७।२

जो ब्रह्मबुद्धि से विज्ञान की उपासना करता है वह विज्ञानी और ज्ञानी समूह के लोकसमूह लाभ करता है। जितनी तक विज्ञान की गति उतनी ही वह स्वच्छन्द गति प्राप्त होता है।

नारद :—"भगवन्! विज्ञान से श्रेष्ठ कुछ है क्या ?"

सनत्कुमार—"अवश्य ही विज्ञान से श्रेष्ठ वस्तु है।"

नारद :—"मुझको बताइये।"

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति

श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतंगपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बल-मुपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।८।१

विज्ञानसे बल श्रेष्ठ है—एक बलवान मनुष्य, सौ मनुष्योंको कम्पायमान करता है। जब कोई बलवान होता है, तब वह उठ नहीं सकता है। उठना समर्थ होकर सुश्रूषा करता है, सुश्रूषा कर अन्तरंग होता है, अन्तरंग होकर पयवेक्षण करता है, श्रवण करता है, मनन करता है, धारणा करता है, आचरण करता है, आचरण से अनुभव करता है, पृथ्वी बलसे सुप्रतिष्ठित है। बलसे अन्तरीक्ष, देवलोक, पर्वत, देव, मानव समूह, पशुगण, पक्षीसमूह, तृण व वनस्पति समूह, कीट-पतंग, पिपीलिका पशुसमूह और लोक प्रतिष्ठित है।

बलकी उपासना करो।

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद् बलस्य गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।८।२

जो ब्रह्म बुद्धिसे बलकी उपासना करता है, जितना तक बलकी गति उतना तक ही स्वच्छन्द गति लाभ करता है।

नारद—हे भगवन ! बलसे महत्तर कुछ है क्या ?

सनत्कुमार—बलसे महत्तर अवश्य ही कुछ वस्तु है ही ।

नारद—"मुझसे कहिये ।"

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद् यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद् यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टा अश्रोताऽमन्ताऽबोद्धा अकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ।।

छान्दोग्य ७।९।१

बलसे अन्न श्रेष्ठ है । इसलिये कोई यदि दस रोज भूखा रहे तो वह जीवित रहने पर भी दृष्टि-हीन, श्रवण-हीन, मनन-हीन, बोध-हीन, क्रियाहीन और विज्ञान-हीन होते हैं । पश्चात् अन्न ग्रहण करनेपर वह पुनः द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता और विज्ञाता होता है ।

अतः अन्नकी उपासना करो ।

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नान्नद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ।।

छान्दोग्य ७।९।२

ब्रह्म बुद्धि से जो अन्न की उपरसना करता है, वह प्रभूत अन्नपान युक्त लोकसमूह काम करता है । जितना तक ही अन्न की गति उतना तक ही उसकी स्वच्छन्द गति होती है ।

नारद—"हे भगवन्! अन्न से कुछ श्रेष्ठ है क्या?"

सनत्कुमार—"अवश्य ही अन्न से श्रेष्ठ वस्तु है।"

नारद—"मुझसे कहिये।"

आपो वाव अन्नाद्भूयस्तस्माद् यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत् पर्वता यद्देवमनुष्या यत् पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।१०।१

अन्न से जल श्रेष्ठ है। इसलिये जब सुवृष्टि नहीं होती है, तब ही अन्न का अभाव होगा, ऐसी चिन्ताओं से जीव उद्विग्न होते हैं। फिर भी सुवृष्टि होने से यथेष्ट अन्न होगा यह सोचकर आनन्दित होते हैं। आकार विशिष्ट ये पृथ्वी, अन्तरीक्ष, देवलोक, पर्वत समूह, देवगण, मनुष्य समूह, पशुगण, पक्षीसमूह, तृण-वनस्पति समूह और कीट-पतंग, पिपीलिका आदि हिंस्र जन्तु समूह, जल ही के रूप में परिणत हुए हैं।

जल की उपासना करो।

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान् कामांस्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।१०।२

जो ब्रह्म बुद्धि से जल की उपासना करता है, वह सभी काम्य वस्तुएँ लाभ करता है और तृप्त होता है। जितना तक जल की गति उतना तक ही उसकी स्वच्छन्द गति होती है।

नारद—"हे भगवन्! जल से उन्नत कुछ है क्या?"

सनत्कुमार—"जल से उन्नत वस्तु अवश्य ही है!"

नारद—"मुझसे कहिये।"

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत् पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भि-राह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत् पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।११।१

जल से तेज गरीयान है। यह तेज जलवायु का अवलम्बन कर आकाश को संतप्त करता है, तब मनुष्य कहते हैं—"अत्यन्त गरम है, दहन करता है, वृष्टि होगी"। ऐसे स्थल में तेज पहले अपने को प्रकाश कर पर जल-सृष्टि करता है। ऊर्ध्वगामी व वक्रगामी बिजली के साथ जब मेघ-समूह भ्रमण करते हैं, वही इस तेज का कारण है। इसलिये कहा जाता है कि बिजली चमकती है, मेघ गर्जन करता है, वारिश होगी। अतः तेज पहले आत्म-प्रकाश कर पीछे जल-सृजन करता है। तेज की उपासना करो।

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतः अपहततमस्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।११।२

जो ब्रह्म बुद्धि से तेज की उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है। वह दीप्तिमान उज्ज्वल तमोहीन लोकसमूह लाभ करता है। जितना तक तेज की गति उतनी तक ही स्वछन्द गति होती है।

नारद—"हे भगवन तेज से महत्तर कुछ है क्या"।

सनतकुमार—"अवश्य ही तेज से महत्तर वस्तु है ही"।

नारद—"मुझसे कहिये"।

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।१२।१

तेज से आकाश महत्तर है। चन्द्र व सूर्य दोनों ही विद्युत् नक्षत्र-समूह और अग्नि गगन में विद्यमान है। आकाश की सहायता से आह्वान सुना जाता है। (वियोगजनित) शोक गगन में अनुभूत होता है। अंकुरादि गगन में पैदा होता है। गगन अभिमुख में उद्गत होता है। आकाश की उपासना करो।

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान् प्रकाशवतोऽसंबाधान् उरुगायवतोऽभिसिध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।१२।२

ब्रह्म बुद्धि से जो आकाश की उपासना करता है वह सुविस्तीर्ण ज्योतिर्मय, क्लेशहीन विशाल लोकसमूह लाभ करता है। जितनी तक गगन की गति होती है, उतनी तक ही उसकी स्वच्छन्द गति होती है।

नारद—"हे भगवन्, आकाश से श्रेष्ठ कुछ है क्या" ?

सनतकुमार—"आकाश से श्रेष्ठ वस्तु अवश्य ही है"।

नारद—"मुझसे कहिये"।

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद् यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान् विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।१३।१

स्मृति गगन से श्रेष्ठ है। इसलिये बहु मनुष्यों का समागम होने पर भी स्मृति नहीं रहने से कोई किसी की बात नहीं सुनते हैं, सोच नहीं सकते हैं, समझ नहीं सकते हैं। फिर जब स्मृति लाभ होता है, तब सुनते हैं, सोचते हैं और समझते हैं। स्मृति की सहायता से पशुओं को पहचानते हैं। स्मृति की उपासना करो।

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत् स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।१३।२

स्मृति की जो ब्रह्मरूप में उपासना करता है, स्मृति की गति जितने तक है, उतना तक ही वह स्वच्छन्द गति लाभ करता है।

नारद—"हे भगवन्, स्मृति से श्रेष्ठ कुछ है क्या" ?

सनतकुमार—"स्मृति से श्रेष्ठ वस्तु अवश्य ही है"।

नारद—"मुझसे कहिये"।

भोगमात्र ही स्मरण शक्ति के अधीन है। जिसके चित्त में भोग का कोई संस्कार नहीं है, उसके भोग विषय में कोई अनुभव नहीं है, यह समझ सकता है। अभिज्ञता नहीं रहने पर उस विषय में आसक्ति नहीं जन्माती है। सुतराम् ऐसा मानव कभी भोगक्षम नहीं हो सकता है। भोग्यवस्तु विषय में अभिज्ञता नहीं रहने से वह ग्रहणीय रूप बुद्धि नहीं जन्माती है। सुतराम् पहले भोग का अनुभव रहने से ऐसा अनुभव-जनित संस्कार अन्तःकरण में सुप्त अवस्था में रहता है। भोग्य वस्तु के सान्निध्य में वह संस्कार पुनः प्रबुद्ध होकर स्मृतिरूप में परिणत होता है और उसके प्रभाव से संस्कारानुरूप भोग में प्रवृत्ति होती है।

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो व स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥

छान्दोग्य ७।१४।१

स्मृति से आशा श्रेष्ठतर है। आशा में उद्बुद्ध होकर स्मृतिमान पुरुष मन्त्रसमूह पाठ करता है, क्रिया का अनुष्ठान करता है, पुत्र, पशु आदि की कामना करता है और इहलोक का व परलोक की इच्छा करता है।

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्व कामाः समृद्ध्यन्त्यमोघा ह्यस्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥

छान्दोग्य ७।१४।२

जो ब्रह्मबुद्धि में आशा की उपासना करता है, उनकी सभी वासना आशा से परिपुष्ट होती है (अर्थात् पूर्ण होती है) और उसकी प्रार्थना समूह सफल होते हैं। जितनी तक आशा की गति है, उतनी तक ही उसकी स्वच्छन्द गति होती है।

नारद—"हे भगवन्, आशा से महत्तर कुछ है क्या"?

सनतकुमार—"आशा से महत्तर वस्तु अवश्य ही है"।

नारद—"मुझसे कहिये"।

प्राणो वाव आशाया भूयान् यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥

छान्दोग्य ७।१५।१

आशा से प्राण श्रेष्ठ। शलकायें जैसा रथ के नाभि में संयुक्त रहता है, वैसा सभी प्राण में अनुप्रविष्ट है। प्राण से प्राण विचरण करता है। प्राण ही प्राण को प्राण दान करता है, प्राण ही पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य और ब्राह्मण हैं। (१)

नाम से शुरू कर उत्तरोत्तर जिनको जिस विषय को 'भूयान्' रूप से निर्देश किया गया है, उनमें प्रथम कार्य स्वरूप है, द्वितीय कारण स्वरूप है। आशा तक यह नियम अनुसरण किया गया है। नाम कार्य वाक उसका कारण है, वाक् कार्य मन उसका कारण है, ऐसा ही। सर्वत्र कार्य से कारण महत्तर है। यह स्वाभाविक है। अतः नाम आदि काय से उसका कारण स्वरूप वाक् आदि को 'भूयान्' रूप से निर्देश किया है। यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय योग्य यह है कि नाम से आशा तक जिन कोई विषय उल्लिखित हुए हैं वे सभी आशा के अधीन है—अभिलाषा से दृढ़ भाव में संश्लिष्ट हैं। इसलिये उनको "आशापाश में वद्ध" कहा गया है। स्मृति शक्ति उनकी कार्यकारिता का मूल है। क्यों स्मरण के अभाव से उनका कोई काय करना ही असम्भव है।

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद् भृशमिव प्रत्याह धिक् त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥

छान्दोग्य ७।१५।२

यदि कोई पिता, माता, भाई, बहन, आचार्य या ब्राह्मणों से कठोर वचन कहता है, तो उसको मनुष्य कहता है—"तुमको धिक्, तुम पितृघाती, मातृघाती, भगिनीघाती, गुरुघ्न या ब्राह्मणघ्न हुए हो।"

अथ यद्यप्येनान् उत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषन्दहे-न्नैवैनं ब्रूयुः पितृहाऽसीति न मातृहाऽसीति न भ्रातृहाऽसीति न स्वसृहाऽसीति नाचार्यहाऽसीति न ब्राह्मणहाऽसीति ॥

छान्दोग्य ७।१५।३

पक्षान्तर में यदि कोई इनके मृतदेह पुञ्जीभूत कर शूल खण्ड खण्ड कर दहन करता है, तो भी मनुष्य उससे नहीं कहता है कि तुम पितृ-घाती, मातृघाती, भगिनीघाती, गुरुघ्न या ब्राह्मणघ्न हुए हो।

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद् ब्रूयुरतिवादी असीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥

छान्दोग्य ७।१५।४

प्राणी ये पिता, माता आदि होता है। इस प्राणतत्त्व को जो जानता है, वह ऐसा अनुभवकर, विचारकर, निश्चयकर सिद्धवाक् होता है।

यदि कोई कहता है "आप अतिवादी हैं",[१] तब वे कहते हैं "हाँ, मैं अतिवादी हूँ"। उनको अस्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव बिजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥

छान्दोग्य ७।१६।१

सत्य को आश्रय कर जो सिद्धवाक् होता है वह यथार्थ सिद्धवाक् है।

नारद—"मैं स्वावलम्बन से ही सिद्धवाक् होता हूँ।"

सनत्कुमार—"यदि उसको चाहो तो सत्य को जानने के लिये आग्रहशील होना होगा।"

नाद—"हे भगवन्! मैं सत्यको ही उत्तम रूपसे जानना चाहता हूँ।"

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं बदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥

छान्दोग्य ७।१७।१

१। "अति शब्दका अर्थ अधिक या अतिरिक्त है। 'वादी' शब्दका अर्थ 'वक्ता' है। अतः जो अतिरिक्त कहता है, उसको अतिवादी कहा जाता है। प्राणतत्वज्ञ सार्थक नाम से शुरू कर आशा तक जो कुछ ज्ञातव्य है, वे तो सम्पूर्णतया है ही। अधिकन्तु प्राण रूप में अधिकता भी जानता है। इसलिये आशा का अतीत प्राण का गूढ़ रहस्य कहने से वह समर्थ है। इसका परवर्त्ती श्रुति में यथार्थ अतिवादी कौन है, वह विस्तृत रूप में कहा गया है।

जब कोई विशेष ज्ञानी होता है, तब वह सत्य कहता है। सम्पूर्ण नहीं जान कर कोई सत्य को प्रकाश नहीं कर सकता है। विशेष रूप से जान कर ही सत्य कह सकता है। ऐसा विशेष ज्ञान या विज्ञान लाभ करने में समुत्सुक होने की आवश्यकता है।

नारद—"हे भगवन्! मैं विशेष रूप से विज्ञान लाभ करना चाहता हूँ।"[1]

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥

छान्दोग्य ७।१८।१

कोई जब मनन करता है, तब विज्ञान लाभ करता है। मनन के बिना विज्ञान लाभ नहीं होता है। मनन करने से ही विज्ञान लाभ सम्भव होता है, परन्तु मनन जानने के लिये अनुसन्धान की इच्छा की आवश्यकता है।

नारद—हे भगवन्! मैं मनन को जानना चाहता हूँ।

१। वस्तु का जो साधारण ज्ञान है, वह विज्ञान पदवाच्य नहीं होता है। विशेष ज्ञान ही विज्ञान है। वस्तु की विशेष अवस्था यथार्थ रूप में केवलमात्र प्रत्यक्ष या अपरोक्ष अनुभूति की सहायता से अनुभूत होती है। सुतराम् अपरोक्षानुभूति यहाँ विज्ञान शब्द का अर्थ अद्वैत वेदान्त मत में सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। नामरूपात्मक दृश्यमान प्रपञ्च सत्य नहीं है। वह मिथ्या है। सुतराम् प्रत्येक वस्तु का नामरूप विमुक्त स्वरूप का अपरोक्ष उपलब्धि ही यहाँ विज्ञान शब्द का अर्थ है। नारद ने ऐसा विज्ञान जानने के लिये इच्छा की।

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥

छान्दोग्य ७।१६।१

श्रद्धा उत्पन्न होने पर ही मानव मनन कर सकता है। श्रद्धावान् नहीं होकर मनन नहीं कर सकता है। श्रद्धावान् होकर ही मनन करता है। श्रद्धा क्या है, यह जानने की चेष्टा करना कर्त्तव्य है।

नारद—हे भगवन्! श्रद्धा क्या है मैं जानना चाहता हूँ।

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठं श्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥

छान्दोग्य ७।२०।१

निष्ठावान मनुष्य ही श्रद्धावान हो सकता है। बिना निष्ठा से कोई मनुष्य श्रद्धावान हो सकता नहीं। पहले निष्ठा क्या है, उसका ज्ञान होना चाहिये।

"हे भगवन्! निष्ठा क्या है, उसको जानना चाहता हूँ।"

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥

छान्दोग्य ७।२१।१

एकाग्र मनुष्य ही निष्ठावान हो सकता है। एकाग्र नहीं होने से निष्ठावान नहीं हो सकता है। एकाग्रता क्या है, उसके जानने को उत्सुक होने की आवश्यकता है।

"हे भगवन्! एकाग्रता क्या है, उसको मैं जानना चाहता हूँ।"

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥

छान्दोग्य ७।२२।१

सुख लाभ करने पर मानव एकाग्रता साधन करता है। सुख लाभ नहीं करने से एकाग्रता साधन में प्रवृत्ति नहीं होती है। सुख लाभ कर ही मानव एकाग्रता साधन में अग्रसर होता है।[१] यह सुख क्या है जानने के लिये उत्सुकता की आवश्यकता है।

नारद :—हे भगवन् सुख क्या है मैं जानना चाहता हूं।

---

(१) इन्द्रिय संयम व चित्त की एकाग्रता साधन होने पर जो आनन्द लाभ होता है वह स्थिर है, और सबसे उत्तम है। इन्द्रिय की चंचलता से मन स्वभावतः ही विक्षिप्त होता है। सुतराम् ऐसी अवस्था में जो सुखानुभूति होती है वह क्षणस्थायी मात्र है। परन्तु इन्द्रिय संयम से मन की चंचलता दूर होने पर जो परमानन्द लाभ होता है, वह नितान्त रूप से आत्मकेन्द्रिक है। सुतराम् वह सदा के लिये प्रदीप्त रहता है।

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥

छान्दोग्य ७।२३।१

जो भूमा है वही सुख है। क्षुद्र में सुख नहीं भूमा ही[1] सुख है। भूमा क्या है जानने के लिये आ हशील होना होगा।

नारद :—"हे भगवन् भूमा क्या है मैं जानना चाहता हूँ।

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो

---

(१) भूमा शब्द का अर्थ महत् या बृहत्। सुतराम् सबसे वृहत् अर्थात् असीम है वही भूमा। इस अर्थ में ब्रह्म को भूमा कहा गया है। बृह् शब्द से ब्रह्म शब्द निष्पन्न हुआ है। वृह् धातु का अर्थ वृद्धि व वृहत्। "सच्चिदानन्द ब्रह्म" आदि श्रुति में ब्रह्म को आनन्दस्वरूप रूप से स्पष्ट निर्देश किया गया है। पक्षान्तर में जो कई काल या देश से परिच्छन्न अर्थात् सीमावद्ध उससे और कुछ वृहत है यही स्वाभाविकता से समझा जाता है। सुतराम् कई ससीम वस्तु की प्राप्ति कभी परमानन्ददायक नहीं हो सकता है। क्योंकि वस्तु का ससीमत्व आपेक्षिक है। अतएव जो लाभ होता है उससे अधिक सुखदायक दूसरा कुछ देखते ही पुनः उसको पाने की अभिलाषा होती है। फिर उसको पाने पर दूसरा अधिक कुछ पाने के लिये मन चंचल होता है। ऐसे उत्तरोत्तर आशा बढ़ती है इस लिये अल्प या ससीम बस्तुओं में सुख नहीं है।

वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥

छान्दोग्य ७।२४।१

जिस अवस्था में कोई दूसरे किसी को नहीं देखता है, दूसरा कुछ नहीं सुनता है, दूसरा कुछ नहीं जानता है[१] वही भूमा है, फिर जिस अवस्था में दूसरा कुछ सुनता है, देखता है, जानता है वही क्षुद्र है। जो भूमा है वही अमृत है, परन्तु जो क्षुद्र है वही मरणशील है।

नारद:—"हे भगवन् वे कहाँ अवस्थित हैं?"

सनत्कुमार—"आत्ममहिमा में या उसमें ही नहीं।"

गो-अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥

छान्दोग्य ७।२४।२

जगत में गो, अश्व, हस्ती, सुवर्ण, दास, भार्या, क्षेत्र गृह, आदि की ही महिमा कहा जाता है। परन्तु मैं ऐसी महिमा की कहानी नहीं कहता हूं। क्योंकि प्रतिष्ठा शब्द से 'एक दूसरे के ऊपर में स्थिति समझाता है। मैं कहता हूँ—

---

(१) अविद्यावस्था में द्वैत का दर्शन, श्रवण व ज्ञान होता है। भूमा में ऐसा द्वैत नहीं। सुतराम् तादृश दर्शन आदि भी नहीं है।

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥

छान्दोग्य ७।२५।१

वह नीचू में, वह ऊपर में, वह पीछे में, वह सन्मुख में, वह दक्षिण में, वह उत्तर में, इन सभी में वह है। अतः पर "मैं" कह कर ऐसा उपदेश है। मैं नीचू में, मैं ऊपर में, मैं पीछे में, मैं सम्मुख में, मैं दक्षिण में, मैं उत्तर में हूँ। इन सभी में मैं हूं।

(अर्थात् भूमा ही मैं हूँ)

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥

छान्दोग्य ७।२५।२

अतः आत्मा को अवलम्बन कर उपदेश दिया जाता है। आत्मा ही बीच में, आत्मा ही ऊपर में, आत्मा ही पीछे में, आत्मा ही सम्मुख में, आत्मा दक्षिण में, आत्मा उत्तर में—सभी आत्मा हैं। ऐसा दर्शन कर,

ऐसा मनन कर, ऐसा विज्ञान लाभ कर विद्वान मनुष्य आत्माराम, आत्मा-क्रीड़, आत्मरति, आत्मानन्द होकर सर्वेश्वर होते हैं। सभी लोक में उनकी अप्रतिहत गति होती है। फिर इसके अलावा दूसरा जो जानता है, वह राजा का अधीन मरणशील लोकवासी होता है। वे सभी लोकों में अप्रतिहत गति नहीं प्राप्त होते हैं।

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ॥

छान्दोग्य ७।२६।१

जो विद्वान मनुष्य ऐसा देखते हैं, अनुभव करते हैं, जानते हैं, वे देखते हैं कि आत्मा से प्राण, आशा, स्मृति, आकाश, तेज, जल, उत्पत्ति, विलय, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाक्, नाम, मन्त्र-समूह, समुदाय, कर्म—ये सभी आत्मा से होते हैं।

तदेष श्लोको

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्।
सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ॥ इति।

स एकधा भवति त्रिधा भवति। पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव। पुनश्चैकादशः स्मृतः शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते तं स्कन्द इत्याचक्षते ॥

छान्दोग्य ७।२६।२

इसके बारे में एक श्लोक है। तत्त्वज्ञ मनुष्य की दृष्टि में मृत्यु नहीं है, रोग नहीं है, दुःख भी नहीं है। "उनकी दृष्टि में सभी प्रकाश होते हैं और वे सभी प्रकाश में सभी लाभ करते हैं।" वे (सृष्टि के पहले) अद्वितीय रूप में विद्यमान रहते हैं। (पर सृष्टि के प्रारम्भ में) तीन प्रकार, पाँच प्रकार, सात प्रकार, नौ प्रकार होते हैं। फिर उनको ग्यारह, सौ दश और हजार बीस कहा जाता है। आहार-शुद्धि (१) से सत्त्व-शुद्धि, सत्त्व-शुद्धि से अचल स्मृति होती है, अचल स्मृति लाभ होने पर सभी पाप विनष्ट होते हैं। भगवान् सनतकुमार रागादि दोषमुक्त नारद

१। "आह्रियते इति आहारः"—जो आहरण किया जाता है, वही आहार है। भोक्ता अपने भोग के लिये शब्दादि विषय को आहरण करता है—सुतराम् यही सभी उसका आहार है। एतादृश विषय की उपलब्धि-रूप जो ज्ञान है, उसकी शुद्धि को ही आहार-शुद्धि कहा गया है। अतएव आहार-शुद्धि—राग, द्वेष, मोह आदि दोषों से मुक्त विषयोपलब्धि है।

को अज्ञानान्धकार का पर पार दिखाते हैं। सनत्कुमार को स्कन्द कहा जाता है (२)।

२। नारद और सनतकुमार के कथोपकथन के माध्यम में यह सप्तम अध्याय विवृत हुआ है। देवर्षि नारद स्वयं नाना विद्या विशारद और वंश गौरवशाली हैं, तथापि इहलौकिक भोग के समर्थ होकर भी ब्रह्मज्ञान के अभाव से अपनी अकृतार्थता उपलब्धि कर ब्रह्मज्ञ भगवान् सनतकुमार के पास शिष्यरूप में उपस्थित हुआ था। सुतराम् इस अध्याय के माध्यम में उपनिषद् यह कहता है कि सभी जागतिक विद्या में विशेष पारदर्शी होकर भी जड़वस्तु को तत्त्वज्ञान की सहायता से मनुष्य परम आनन्दमय शान्ति लाभ करने में समर्थ नहीं होता है। केवल चैतन्यमय भूमास्वरूप वस्तुको जानकर हृदय की सभी तृष्णा सदा के लिये शेष हो जाती है। ससीम वस्तुलाभ से ऐसा आनन्द कभी सम्भव नहीं है। सुतराम् जीवन का जो चरम व परम लक्ष्य है और दुःख की चिरनिवृत्ति और सुखलाभके लिये सभी अभिमान छोड़कर इन्द्रिय संयम व मन की एकाग्रता के सहारे सद्गुरु के उपदेश से परम लक्ष्य में उपनीत होना होगा।

सृष्टि

दृश्यमान इस जगत् का स्वरूप निरूपण करने में इसके मूल कारण को खोजने की आवश्यकता है। इसलिये अनादिकाल से मनीषीवृन्द अपनी दृष्टि की सहायता से सृष्टि रहस्य का मूल कारण अन्वेषण करने में प्रवृत्त हुए हैं। असत् या शून्य को ही किसीने जगत् का मूल कारण माना है। अति सूक्ष्म परमाणु या स्वत्त्व, रजः, तमः गुणात्मक प्रकृतिको ही कितने ही दार्शनिकों ने जगत् का मूल कारण स्थिर किया है। परन्तु उपनिषद्कार ने नित्य शुद्ध विराट ब्रह्म को ही जगत् के उपादान रूप में निर्द्धारण किया है।

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत् सुकृतमुच्यते ॥ इति।

यद्वै तत् सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य''' ॥

तैत्तिरीय २।७

सृष्टि के पहले इस जगत का किसी प्रकार अस्तित्व नहीं था। उससे (ब्रह्म) परिदृश्यमान जगत् की उत्पत्ति हुई है। उन्होंने (ब्रह्म) अपनेको ही आप सृष्ट किया। इसलिये उनको आत्मकृत कहते हैं। जो वह आत्मकर्त्ता वह ही रस स्वरूप। इस स्वरूप रस को लाभकर जीव आनन्द-मय होता हैं। अन्तराकाश में यह आनन्द स्वरूप नहीं रहने से कोई इस अपान क्रिया करने में व कोई प्राण क्रिया करने में प्रवृत्त होते हैं (ब्रह्म-हैही)। कारण—केवल वह ही आनन्दित करता है। जब इस दर्शनातीत अशरीरी अनिर्वचनीय आश्रयहीन वस्तु को निर्भय का एक ही अवस्थान-रूप में ज्ञान होता है, तभी साधक को अभय प्राप्त होता है। पुनः जब इसमें कई भेद बुद्धि का उदय होता है, तभी भय का उदय होता है। अविवेकी साधारण ज्ञानी के बारे में यह अभयपद ही भय का कारण है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

मुण्डक १।१।७

जैसा ऊर्णनाभ सूत पैदा व आत्मसात् करता है, भूतल में जैसा लता व गुल्मादि पैदा होते हैं। मानव शरीर में जैसा केश और लोमादि निर्गत होते हैं, वैसा ही ब्रह्म से यह चराचर विश्व उत्पन्न हुआ है।

नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाय-याऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चं-

न्नचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥

बृहदारण्यक १।२।१

पहले कुत्रापि कुछ भी नहीं था। बुभूक्षारूप मृत्यु से सभी आवृत था[१]। क्योंकि क्षुधा ही मृत्यु है। मैं आत्मवान् होगा ऐसा संकल्प कर वह मृत्यु ने मन की सृष्टि की है। वह मन अपने को अर्चना कर घूमता रहता है। उसके अर्चनाकाल में जल उत्पन्न हुआ है[२]। (वह सोचता है) "हमारी तपस्याकाल में 'क' अर्थात् उदक उत्पन्न हुआ है।" अतएव यही अग्नि का अग्नित्व। जो इस अग्नितत्त्व को जानता है, उसके लिये अवश्य ही जल समागम होता है।

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियता- सौ नामाऽयमिदंरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामाऽयमिदंरूप इति स एष इह प्रविष्टः। आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा

१। घट की उत्पत्ति के पहले जैसा वह स्वकीय कारण मिट्टी के पिण्ड में अव्याकृत रूप में अवस्थान करता है, वैसा ही स्थूल नामरूपाकार में अभि- व्यक्त होने के पहले जगत स्वीय कारण हिरण्यगर्भ में अवस्थित था।

२। अपंचीकृत पंचमहाभूत मिलित होकर क्रमशः स्थूल, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी की सृष्टि करता है। सुतराम् आकाश, वायु व तेज पहले ही सृष्ट हुए हैं। यह समझना चाहिए। (तैतिरीय २।६)

विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति। वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैक-मुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत, एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपा-सीतात्र ह्येते सर्वं एकं भवन्ति। तदेतत् पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत् सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥

बृहदारण्यक १।४।७

तब यह जगत् अप्रकाश था। इसके बाद "इसका नाम यह है" 'इसका रूप यह है' इस प्रकार से वह केवल नाम रूप से प्रकाशित हुआ है। अब ही 'इसका यह नाम है' 'इसका यह रूप है' इत्यादि प्रकार से जगत् केवल नामरूप सहाय में अभिव्यक्त होता है। क्षुरधार में जैसा क्षुर या स्वीय उत्पत्ति-स्थान में अग्नि जैसे प्रविष्ट रहती है, वैसे ही यह आत्मा निखिल देह के सभी जगह में नाखून तक अनुप्रविष्ट होकर रहता है। उसको कोई नहीं देखते हैं। कारण—(उसको आंशिक देखते हैं इसलिये) वह उनके बारे में असम्पूर्ण है। जैसा—जब वह प्राणक्रिय करता है, तब वह वागिन्द्रिय, जब देखता है, तब वह चक्षुरिन्द्रिय, जब सुनता है तब वह श्रवणेन्द्रिय, जब मनन क्रिया करता है तब वह मन नाम से परिचित होता है। ये सभी उनका कर्मानुयायी नाम ही हैं। इनके (प्राणादिका) भीतर जो केवल एक ही (आत्म प से) आराधना करता है, वह नहीं जानता ; क्योंकि ऐसी चिन्ता करने से आत्मा अपूर्ण ही रहता है। आत्मा को ऐसा पूर्ण जानना होगा ; क्योंकि इसमें ही सभी एकीभूत होते हैं। इस आत्मा को जानो। जैसा पद-चिह्न देख कर आदमी को पहचान सकता है वैसा ही इसको जानने से सभी जान सकता है। जो ऐसा जानता है वह यश व (स्वजन) संगलाभ करता है।

जीव या जीवात्मा

साधारणतः हम कहने से जो समझते हैं वही जीव है। अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त में वह ब्रह्म या जीव ही परब्रह्म है। परन्तु व्यवहारिक जगद् में जीव कहने से जो समझते हैं शास्त्रकार के सिद्धान्त में वह सूक्ष्म शरीर ही है। ग्यारह इन्द्रिय, पाँच वायु, बुद्धि व अहंकार इनकी सम्मिलित अवस्था ही सूक्ष्म शरीर है। संस्कार वासना आदि उस सूक्ष्म शरीर का धर्म है। वह ही देह से देहान्तर में भ्रमण करता है। जब तक वह स्थूल शरीर के भीतर रहता है, तब तक ही मानव जीवित रहता है। वह बाहर होने से मानव का मृत्यु होता है।

स्व रू प

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥

कठ २।३।१७

यह अन्तरात्मा अंगूठी परिमित[१] है। वे सदा सभी के हृदय में रहते हैं। मुञ्जतृण से जैसा उसका शीष यत्न से पृथक करना होता है वैसा ही धैर्य के साथ इस आत्मा को देह से पृथक् करना होगा। इस आत्मा को शुद्ध ब्रह्म रूप से जानना होगा। वह ही शुद्ध ब्रह्म है।

(१) पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच वायु, मन, बुद्धि व अहंकार

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वाः; तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः। अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥

ऐतरेय १।३।१२

वह (परमेश्वर) मूर्धा विदीर्ण कर वही द्वार में प्रवेश करता है। उस द्वार का नाम विदृति है। इसलिये यह द्वार परमानन्द लाभ का उपाय है। उसका (जीव देह में प्रविष्ट आत्मा का) वासस्थान तीन हैं वे स्वप्न भी तीन हैं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति)। यह दक्षिण चक्षु, मन और हृदय यह तीन वासस्थान है।

अ व स्था त्र य[१]

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूल-भुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥

माण्डूक्य ३

इनकी सम्मिलित अवस्था ही सूक्ष्म शरीर है। ऐसे सूक्ष्म शरीर को ही अंगुष्ठ मात्र कहता है। व्यवहारिक जीवन में वह ही जीव नाम से पुकारा जाता है। उस सूक्ष्म शरीर के भोग के लिये जब स्थूल शरीर को आश्रय करता है, तभी वह जन्म नाम से कहा जाता है। उस सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर त्याग ही मृत्यु है। महाभारत में सावित्री सत्यवान उपाख्यान में स्पष्ट रूप से लिखित है कि यमराज ने सत्यवान के स्थूल देह से पाशवद्ध अंगुष्ठमात्र पुरुष को ही ग्रहण किया था। वस्तुतः "अंगुष्ठमात्र" इस कथन का उपलक्षण है। वह अति सूक्ष्म यही सारांश है।

(१) जाग्रत् स्वप्न व सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ साधारण अनुभव सिद्ध हैं। प्रत्येक अवस्था का वाह्यिक तारतम्य रहने पर भी तीनों अवस्था में अनुभव करनेवाला एक ही रहता हैं। सुतराम् तीनों अवस्था के भीतर जो अनुभव करनेवाला वह एक है और वह जीव है। यही तात्पर्य है।

आत्मा का प्रथम पाद वैश्वानर जाग्रत अवस्था ही उसका योगस्थान है। वाह्य वस्तु के विषय में वह ज्ञानसम्पन्न है। उसके अंग सात हैं और मुख उन्नीस हैं। वह स्थूल विषय का भोग करनेवाला है।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥

माण्डूक्य ४

आत्मा का द्वितीय पाद तैजस[1] है। उसका भोगस्थान स्वप्नावस्था वह अन्तःप्रज्ञ है। उसका अंग सात, मुख उन्नीस हैं। वह सूक्ष्म विषय की भोक्ता है।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥

माण्डूक्य ५

सुप्त मानव जब कोई कामना नहीं करता है या स्वप्न भी नहीं देखता है तब उसको सुषुप्त कहते हैं।[2] इसी अवस्था में जो स्थित वह सर्व-

---

१। यहाँ ही तैजस (या स्वप्नावस्था व्यष्टि प्राणी) व हिरण्य-गर्भ का ऐक्य है।

२। जागरण, स्वप्न व सुषुप्ति यही तीन अवस्था ही निद्रा है। प्राणी तीन अवस्था में ही निद्रित है, क्योंकि सभी जगह में तत्व की अनुभूति है। जाग्रत और स्वप्नावस्था में अधिक दोष यह है कि उसमें तत्व का अन्यथा ग्रहण भी है। इस प्रकार में चिर सुप्त जीव का प्रात्यहिक स्वप्न व सुषुप्ति में एक विशेषत्व है। ऐ—१।३।१२

विक्षेप रहित होता है।[१] वह शुद्ध ज्ञान स्वरूप आनन्दमय और आनन्द का भोक्ता है। वह सभी अभिज्ञता का द्वार स्वरूप है।[२] वह प्राज्ञ ही[३] आत्मा का द्वितीय पाद है।

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥

छान्दोग्य ६।५।१

उदरस्थ खाद्य की परिणिति तीन रूप से होती है। उसका स्थूलांश मल होता है। मध्यमाँश माँस में[४] और सूक्ष्मतम अंश मन में परिणत होता है।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥

छान्दोग्य ६।५।२

१। जागरण व स्वप्नावस्था में अनुभूत मनोविक्षेप रूप द्वैत समूह यहाँ कारण के सहित मिलित होने से पृथक रूप में अनुभूत नहीं होता है। इसलिये उसी अवस्था में उपहित आत्मा के मूल में एकीभूत कहा जाता है, परन्तु उसी अवस्था में कम्पूर्ण रूप में द्वैत लीन नहीं होता है, क्योंकि पुनः निद्रावसान में द्वैत जगत की उत्पत्ति होती है।

२। सुषुप्ताभिमानी प्राज्ञ से स्वप्न व जागरण की उत्पत्ति होती है।

३। पहले की तरह इसमें प्राज्ञ (जीव) और ईश्वर का अभेद समझना होगा।

४। मध्यमांश तरल रुधिर आदि से परिणत होकर क्रमशः मांस होता है।

पीने पानी का स्थूल भाग मूत्र में जाता है, सूक्ष्मभाग शोणित में और सूक्ष्मतम अंश प्राण में परिणत होता है।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्॥

छान्दोग्य ६।५।३

घी आदि खाने से उसकी परिणिति तीन रूप में होती है। स्थूल अंश अस्थि, सूक्ष्म अंश मज्जा और सूक्ष्मतम अंश वाक् रूप में[1] परिणत होती है।

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति॥

छान्दोग्य ६।६।२

हे सौम्य! ऐसा ही भक्षित वस्तु का सूक्ष्म अंश ऊपर में उठ कर मन रूप से परिणत होता है। (अर्थात् मन की पुष्टि करते हैं)

अपां सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति॥

छान्दोग्य ६।६।३

हे सौम्य, पीये पानी का सूक्ष्मांश ऊर्ध्वगामी होकर प्राण रूप से परिणत होता है।

१। घी आदि तैजस पदार्थ भोजन करने से भाषण देने की शक्ति होती है। यह कथन है।

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग् भवति ॥

छान्दोग्य ६।६।४

हे सौम्य, घी आदि वस्तु खाने से उसका सूक्ष्मांश ऊर्ध्वगामी होकर वाक् रूप से परिणत होता है।

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद् यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद् योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत् स एष जीवेनात्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥

छान्दोग्य ६।११।१

हे सौम्य, जीवात्मा सम्मुख में अवस्थित वृक्ष आदि सभी जगह में है। इसलिये वृक्ष के मूल देश में आघात करने से वह वृक्ष जीवित रहता है। और क्षत स्थान से रस निकलता है। ऐसा ही मध्य भाग में या अग्र भाग में आघात करने से ही वृक्ष जीवित रहता है और वहाँ से रस निकलता है।

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यतीति ॥

छान्दोग्य ६।११।२

पेड़ के किसी एक टहनी से जीवात्मा हट जाने से वह टहनी मर जाती है। ऐसा ही दूसरी या तीसरी टहनी को जीवात्मा छोड़ देने से

वह टहनी भी सूख जाती है। समूचे पेड़ को छोड़ देने से पेड़ भी सूख जाता है।

एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति...... ॥

छान्दोग्य ६।११।३

(पिताने कहा) हे सौम्य, ऐसा ही जानना होगा—जीव नहीं मरता है। जीवत्यवत देह ही मरता है। यह जगत् उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल कारण से आत्मवान है। हे श्वेतकेतु! तुम भी ऐसे हो। (आत्मा)। श्वेतकेतु ने कहा—हे भगवन्, मुझको दूसरी बात समझाइये। पिता ने कहा—हे सोम्य, ऐसा ही होगा।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

कठ १।३।३

इस देह रूप रथ का रथी जीवात्मा है। सारथी है बुद्धि और मन को वल्गा (लगाम) जानना होगा।

अचेतन देह में सचेतन आत्मा के संस्पर्श के अलावा कई विषय में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। रथी व रथ इस रूप के सहारे यह समझाना हुआ है। यहाँ सूक्ष्म भाव में शरीर मन आदि जड़ पदार्थ का अतिरिक्त चेतन आत्मा स्वीकार की युक्ति प्रदर्शित हुई है। तात्पर्य यही है कि प्रवृत्तिशील जो कुछ अचेतन पदार्थ—कई एक चेतन का संश्लिष्ट

होता है। सुतराम् अचेतन देह व चेतन का संस्पर्श भिन्न प्रवृत्त नहीं हो सकता है। जो चेतन वही आत्मा है।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

कठ १।३।१

कर्मफल का अवश्यम्भावी भोक्ता जो दो पुरुष[1] भोगायतन इस देह के भीतर परब्रह्म का उत्तम उपलब्धि स्थान बुद्धिरूप गुहा में प्रविष्ट है, उनको ब्रह्मयज्ञ ने पञ्चाग्निकने[2] और त्रिनाचिकेत ने आलोक व छाया की तरह परस्पर विलक्षण कहा है।

---

(१) अर्थात्—जीव व ईश्वर। यहाँ फलभोगकारी मात्र जीव है परन्तु ईश्वर को छत्रिन्याय में कर्मफल भोक्ता कहा गया है। दल में बहुत आदमी का छत्र रहने पर कहा जाता है कि छातावाले जाते हैं। वैसा ही एक अर्थात् जीव भोक्ता होने पर भी उसका सान्निध्यवशतः परमात्मा को कर्मफलभोक्ता कहा गया है।

(२) पञ्चाग्नि :—गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिनाग्नि, सभ्य और आवसथ्य। इस अग्नि में गृही यज्ञ करता था। अथवा, पञ्चाग्नि— द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री। अग्नि स्थानीय इसमें क्रमशः आहुत होकर जीव संसार में जन्म ग्रहण करता है। गृहस्थ इस अग्नि को उपासना करता था।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

मुण्डक ३।१।१

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्
अस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

मुण्डक ३।१।२

एक ही रूप व एक ही नाम विशिष्ट दो पंछी एक ही पेड़ में वास करते हैं। उनमें एक स्वादिष्ट फल भोजन करता है। दूसरा कुछ भी नहीं खाता है। वह केवल देखता है। वृक्ष आदि होने आसक्ति के कारण जीव विमूढ़ होकर मूल्यवान होता है। फिर जब अपनी महिमा में प्रतिष्ठित मनुष्यगण सेवित ईश्वर को अपने से अभिन्न रूप में जानता है, तभी वह सभी शोक का अतीत होता है।[1]

---

(१) पहला पंछी जीवात्मा, दूसरा पंछी परमात्मा वृक्ष—देह।
फल—सुख व दुःख रूप कर्म फल।
ईश्वर—दूसरा पंछी परमात्मा।

ईश्वर

उत्पत्ति-विनाश-शील सभी वस्तु को उत्पत्ति एक ही विधिवद्ध-शृंखला के अधीन है, अतएव उत्पन्न वस्तु की अतिरिक्त ऐसा विधिवद्ध शृंखला का कल्पनाकारी कोई एक है, यह स्वाभाविक बुद्धि से ही समझा जाता है। समग्र विश्व ब्रह्माण्ड नियन्त्रणकारी रूप से जो रहते हैं वे ही ईश्वर हैं। यही—शास्त्रकार का सिद्धान्त है। वे ईश्वर अशरीरी नित्य चैतन्यमय और सर्वशक्तिमान। क्योंकि ऐसा नहीं होने से भूत, भविष्य, वर्त्तमान इसी त्रिकाल का सभी पदार्थ-नियंत्रण करना सम्भव नहीं है। संक्षेप में यही ईश्वर-स्वीकार की युक्ति और ईश्वर का स्वरूप है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥

श्वेताश्वतर ३।१४

वही पुरुष का अनन्त मस्तक, अनन्त नयन, अनन्त चरण; वे समग्र भुवन को सर्वतोभाव में परिव्याप्त कर ही नाभिका दशाङ्गुल ऊर्द्ध्व में हृदय में विराजित रहे हैं। (अथवा जगत को अतिक्रम कर उसके बहिर्देश में ही विराजमान हैं)

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम्।

तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥

श्वेताश्वतर ४।११

जो एक होकर भी सभी वस्तु में अधिष्ठित हैं, जिसमें सभी विलीन होता है और जिससे पुनः उत्पत्ति होती है, उस मंगल निदान-स्तवनीय परम देवता का दर्शन लाभकर मानव पराशान्ति लाभ करता है।

यो देवानामधिपो
यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

श्वेताश्वतर ४।१३

जो देवताओंका अधिपति, सभीलोक जिसको आश्रयकर अवस्थित, जो सभी द्विपद और चतुष्पद का शासक उस आनन्दघन परमेश्वर का घी आदि से पूजन करते हैं।

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरञ्च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्-
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

श्वेताश्वतर १।८

ईश्वर नश्वर व अविनश्वर, कार्य व कारण रूप में युक्त विश्व को धारण कर रहा है। वह अनीश्वर (अर्थात् जीव) रूप में भोक्तृत्व

निबन्धन आवद्ध होता है, पुनः परमेश्वर को जानकर सभी बन्धन से मुक्त होता है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

श्वेताश्वतर १।१०

प्रकृति विनाशशील, अज्ञाननाशक परमेश्वर अमर और अविनाशी है। वह एक ही ईश्वर प्रकृति व पुरुष को नियमित करता है। अनन्य मन से पुनः पुनः उसका ध्यान करने से अर्थात् जीवात्मा के साथ परमात्मा के साथ संयोग घटने से, "हम ही ब्रह्म" ऐसा तत्वज्ञान होने से प्रपञ्च रूप माया का अवसान होता है।

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥

श्वेताश्वतर ६।५

वह ईश्वर सभीका कारण है। देह धारण व पाप पुण्य का वही हेतु है। वह त्रिकाल का पार है और अंशहीन रूप में अनुभव होता है। वह विश्वरूप सभी कारण का कारण है। "सत्यस्वरूप पूजनीय देवको—

पहले अपने 'हृदय में अवस्थित है' ऐसी उपासना कर साधक विदेह कैवल्य प्राप्त होता है ।

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥

श्वेताश्वतर ६।६

जहाँ से यह जगत् प्रपञ्च प्रकाशित होता है, वह संसारवृक्ष व काल को विविध परिणति के ऊपर में स्वतन्त्र रूप में अवस्थित है । धर्मका मूल, पापमोचक, षड़ैश्वर्यसंपन्न हृदगुहा में अवस्थित, अमृतस्वरूप विश्व के आश्रय को जानकर साधक विदेह कैवल्य प्राप्त होता है ।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमञ्च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

श्वेताश्वतर ६।७

देवताओं का ही (लोकपाल) परम अधिपति इन्द्रादि देवों का परम देवता प्रजापतिगणका ईश्वर, श्रेष्ठ अक्षर से ही श्रेष्ठ ब्रह्माण्ड के अधिपति उस परमदेवको हम जानते हैं ।

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

श्वेताश्वतर ६।८

उस परम देवता का देह नहीं है, इन्द्रिय भी नहीं है। उसके समान या उससे श्रेष्ठ कोई नहीं है। श्रुति कहती है कि—इसकी पराशक्ति विचित्र कार्यकारिणी और इसका ज्ञान बल क्रिया भी इस शक्ति के अन्तर्गत है।

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

श्वेताश्वतर ६।९

ब्रह्माण्ड में उसका कोई पति या नायक नहीं है। उसका ज्ञापक कोई चिह्न नहीं है। वह ही सबका कारण है। इन्द्रिय समूह का कर्त्ता जीवों का ही वह अधिपति है। इसका कोई जनक या प्रभु नहीं है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते ॥

मुण्डक १।१।९

जिसका ज्ञान अप्रतिहत, सभी सृष्टि जिसका ज्ञात है, तपस्या जिसका ज्ञानमय है उस ब्रह्म से ही स्रष्टा, नाम, रूप और अन्न आदि उत्पन्न होते हैं।

अविद्या या अज्ञान या माया

प्रमाण की सहायता से वस्तु का यथार्थ स्वरूप निर्धारित होता है। सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण श्रेष्ठ प्रमाण है। परन्तु जो हम देखते हैं, वे सभी ठीक हैं यह हम नहीं कह सकते हैं, क्योंकि दूर से हम शुक्ति को (सिपिया) चाँदी की तरह या कभी-कभी रस्सी को साँप की तरह देखते हैं। यह व्यवहारिक जीवन में अनुभव सिद्ध है। प्रत्यक्ष होने पर भी वस्तु का स्वरूप ठीक क्यों नहीं प्रकाशित होता है। उसका कारण खोजने से जो मिलता है, वह वेदान्त शास्त्र में अविद्या नाम से अभिहित हुआ है। वह अविद्या अनादि और भाव पदार्थ है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने से वह नष्ट हो जाता है। अनादि काल से इस अविद्या के प्रभाव से जीव स्वरूपतः ब्रह्म होकर भी अविद्या की आवरण-शक्ति के प्रभाव से आत्मा का नित्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप आवृत हो जाता है और विक्षेप शक्ति का प्रभाव से वह विभिन्न रूप में अभिव्यक्त होता है।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ ईति।

बृहदारण्यक २।५।१९

अपने को प्रकट करने के लिये ईश्वर सभी[1] प में रूपान्तरित हुआ है[2]। माया के लिये[3] वह बहुभावों में अनुभूत होता है, क्योंकि इसमें दस या सैकड़ों इन्द्रिय युक्त हैं।

...तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्यः असावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः॥

वृहदारण्यक १।४।१०

"अपना आत्मा ही ब्रह्म", मुनि वामदेव ने प्रत्यक्ष किया था और उसके सहारे उन्होंने समझा था कि—"हम मनु, हम ही सूर्य हुए हैं"। "मैं ही ब्रह्म" ऐसा ही जो ब्रह्म को जानेगा, वह ही (आत्मभाव में)

१। प्रतिरूप शब्द का अर्थ अनुरूप हो सकता है। अर्थात् माता-पिता के रूप के अनुयायी सन्तान पैदा होती है। मनुष्य से मनुष्य, पशु से पशु आदि।

२। कारण—नाम रूप की अभिव्यक्ति होने से शास्त्रोपदेश, गुरु-शिष्य व्यवहारादि और ब्रह्म को ज्ञान होता है, नहीं तो वह असम्भव है।

३। माया एक होने पर भी वह बुद्धि भेद के कारण बहुत है, इसलिये बहुवचन है।

उस ज्ञान का लाभ होगा। उसको सर्वात्मक देवगण भी नहीं रोक सकते हैं, क्योंकि वह देवगण का भी आत्मा है। फिर भी जो अपने को और अपने उपास्य देव को अलग-अलग समझ कर पृथक भूत देवता की उपासना करता है, वह अविद्वान है।

देवताओं के पास वह पशु की तरह[1]। वैसा ही एक ही मानव देवताओं को (पूजा-पाठ से) पालन करता है। एक पशु भी चोरी होने से उसके दुःख की सीमा नहीं रहती है। इसलिये मनुष्य तत्त्वज्ञान लाभ करेंगे, देवगण यह नहीं चाहते हैं।[2]

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
कठ १।२।२४

जो अशुभ कर्म से निवृत्त नहीं हुआ है, जो इन्द्रिय परतन्त्र, चंचल चित्त, जिसका मानसिक वृत्तियाँ अशान्त हैं, वह इनको लाभ नहीं कर सकता है। वे केवल प्रज्ञान से ही लाभ कर जाता है।

---

(१) यह अविद्या सूत्र है। अर्थात् इस वाक्य में अविद्या का स्वरूप व उसका फल संसार-प्राप्ति संक्षेप में वर्णित हुआ है।

(२) मानुष जैसा अपने पशु को नहीं छोड़ता है वैसा ही देवगण यज्ञादि कर्म से अपने तृप्ति-साधक मनुष्य को नहीं छोड़ चाहते हैं। देवगण केवल अविद्यावान मानव की प्रति अनुग्रह या निग्रह कर सकते हैं। अविद्याधीन जिनको वे मुक्त करने की इच्छा करते हैं उनको ही श्रद्धादियुक्त करते हैं, दूसरे को अश्रद्धायुक्त करते हैं। सुतराम् विद्या काम के लिये श्रद्धा-भक्ति से देवों के अनुग्रह लाभ के लिये देवों का पूजन करना कर्त्तव्य है।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

कठ २।१।१०

यहाँ जो है वहाँ भी सो है। वहाँ जो है यहाँ भी सो है। इसमें (अर्थात् इस ब्रह्म में) वहु दर्शनकारी मृत्यु से मृत्यु में जाता है।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥

ईश १४

जो (मूल) प्रकृति और हिरण्यगर्भको एक ही जानता है, वह हिरण्यगर्भ का पूजन कर मृत्यु को अतिक्रम करता है और (मूल) प्रकृति की उपासना में अमरत्व लाभ करता है।

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्
तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥

मुण्डक १।२।९

विभिन्न रूप से अज्ञान में आवृत अविवेकीगण "हम कृतार्थ हैं" ऐसा अभिमान करते हैं। क्योंकि अशिक्षा से कर्मानुरागीगण प्रकृत तत्त्व नहीं जानते हैं और इसलिये वे कर्मफल भोग के वाद दुःखार्त्त होकर स्वर्गभ्रष्ट होते हैं।

कर्म और कर्मफल

गीता में भगवान ने कहा है कि—"गहना कर्मणो गतिः" अर्थात् कर्म का स्वरूप दुर्विज्ञेय है। एक ही कर्मानुष्ठाता को उद्देश्य भेद में भिन्न फल देता है। उदाहरण रूप में कहा जाता है कि—विद्या लाभ के प्रभाव से बुद्धि की तीक्ष्णता होने पर कोई-कोई उस तीक्ष्ण बुद्धि की सहायता से दुष्कर्मानुष्ठान में अत्यन्त सुदक्ष होता है। शुभ बुद्धि से कर्मानुष्ठान करने से तीक्ष्ण बुद्धि की सहायता से विशिष्ट फल लाभ करता है। उस परिमार्जित बुद्धि के प्रभाव से संसार की असारता बूझकर त्याग व वैराग्य की सहायता से निर्वाण लाभ होता है।

उपनिषद् के मत में जिस अनुष्ठान के फल में आत्मिक-उन्नति लाभ होती है वही यथार्थ कर्म हैं। वह कर्मानुष्ठान सगुण ब्रह्म व निर्गुण ब्रह्म का अनुशीलनात्मक है। प्रथमतः सगुण ब्रह्म की उपासना करना होगा और उस अनुष्ठेय कर्म को यज्ञ रूप में कहा गया हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में ११६ वर्ष मनुष्य का परमायु कल्पना कर जीवन भर यज्ञानुष्ठान कर्म की व्यवस्था की गयी है। वही कर्म तीन भागों में विभक्त है—वही कहा जा रहा है।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातः-सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य

वसवाऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥

छान्दोग्य ३।१६।१

मनुष्य का सभी जीवन ही एक यज्ञस्वरूप है। उसके जीवन के प्राथमिक चौबीस वर्ष प्रभाती लोगस्वरूप[१] है। प्रभाती यज्ञ में गायत्री छन्द में स्तोत्र पाठ करना है। गायत्री छन्द में चौबीस अक्षर हैं। पुरुष यज्ञ में इस प्रभाती हवन में वसुगण[२] युक्त हैं। प्राणसमूह ही वसु हैं। क्योंकि वे ही इन प्राणियों को (देह में) बास कराते हैं।

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥

छान्दोग्य ३।१६।३

इसके बाद (जीवन के) चौवालीस वर्ष हैं, वे ही मध्याह्न यज्ञ है। त्रिष्टुप छन्द की अक्षर संख्याएँ चौवालीस हैं। मध्याह्न हवन में त्रिष्टुप छन्द का मन्त्र पाठ होता है। इस हवन में रुद्रगण युक्त हैं। प्राणसमूह ही रुद्र हैं। क्योंकि ये सभी प्राणियों को रोदन कराते हैं[३]।

१। अग्निस्टोम, सोम, हवन तीन सवन में सम्पादनीय है। प्रात:सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन।

२। अष्टवसु—ध्रुवश्च सोमश्च, विष्णुश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च, वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृताः ॥

३। रुद्र शब्द का अर्थ—जो रोदन करता है या रोदन कराता है। मध्यम वर्ष में प्राणसमूह निष्ठुर होते हैं, सुतराम् वे अपने का व दूसरे का दुःख का कारण होते हैं।

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥

छान्दोग्य ३।१६।५

इसके बाद आठचवालीस वर्ष काल (अपराह्न) तृतीय यज्ञ है। जगती छन्द की अक्षर संख्याएँ आठचवालीस हैं। तृतीय यज्ञ में जगती छन्द का मंत्र पाठ होता है। आदित्यगण[1] इस यज्ञ में युक्त हैं। प्राणीगण ही आदित्य हैं। क्योंकि ये प्राणी समूह को आदान या ग्रहण करते हैं।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोड़शं वर्षशतमजीवत् प्राह षोड़शं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥

छान्दोग्य ३।१६।७

इतरा के पुत्र महीदास ने इस यज्ञविज्ञानको जानकर कहा है कि "हे मृत्य तुम किसके लिये मुझको सन्तापित कर रहे हो? इससे मैं नहीं

---

(१) द्वादश आदित्य :—धाता मित्रोऽर्यमा रुद्रो वरुणः सूर्य एव च ।
भगो विवस्वान पूषा च सविता दशमः स्मृतः ।
एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते ॥

प्राणीगण को आदित्य नाम से कहा गया है। क्योंकि आदित्य जैसा रस ग्रहण करता है वैसा ही ये अर्थात् इन्द्रियगण व प्राणसमूह शब्दार्थ विषय आदान करते हैं।

मरूँगा।" (ऐसे दृढ़ विश्वास के एल में) वे सौ सोलह वष तक जीवित रहे थे। जो ही ऐसा (यज्ञ संपादन विदा का) ज्ञान लाभ करेगा वही स्वस्थ देह में सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहेगा।

क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः—तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमीति विद्युति॥

तैत्तिरीय ३।१०।२

ब्रह्म को प्राप्त वस्तु का संरक्षण रूप में (क्षेम) वाक्य में अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति व प्राप्त वस्तु का संरक्षण रूप में (योगक्षेम) प्राण में और अपान में, क्रिया रूप में दोनों हाथ में गति रूप में दोनों पैर में, त्याग रूप में वायु में प्रतिष्ठित ज्ञान में उपासना करनी होगी। मनुष्य के सम्बन्ध में यह उपासना है। इसके बाद दैवी उपासना कहा जाता है,—वृष्टि में तृप्ति रूप में, विद्युत में वल रूप में—

यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृत-मानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत् प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति॥

तैत्तिरीय ३।१०।३

पशुओं में यशी रूप में, नक्षत्रसमूह में ज्योति रूप में, जननेन्द्रिय में सन्तानोत्पादन रूप अमृत तत्व व सुख रूप में और गगन में गगन रूपी

ब्रह्म को सर्वाधार रूप में उपासना से साधक प्रतिष्ठावान होता है। उनकी महत् रूप में उपासना करने से साधक महान् होता है और मन रूप में उपासना करने से साधक मननशील होता है।

तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।

तैत्तिरीय ३।१०।४

विभिन्न भाव की उपासना में साधक विभिन्न फल लाभ करता है। जैसा—उनको पूज्य रूप में उपासना करने से समुदाय भोग्य वस्तुएँ लाभ होते हैं। श्रेष्ठ रूप में उपासना करने से प्राधान्य लाभ होता है। संहार रूप में उपासना करने से उनके विद्वेषकारी और अप्रिय शत्रु नाश होते हैं। इस पुरुष में जो परमात्मा वास करते हैं और सूर्यमंडल में जो वास करते हैं, दोनों ही एक हैं।

स य एवंवित्। अस्माल्लोकात् प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन्। एतत् साम गायन्नास्ते। हा ३ वु, हा ३ वु, हा ३ वु॥

तैत्तिरीय ३।१०।५

ऐसा ज्ञानी मनुष्य इहलोक से प्रस्थान कर अन्नमय आत्मा में मिलित होता है। क्रमशः प्राणमय आत्मा में, मनोमय आत्मा में, विज्ञानमय आत्मा में और अन्त में आनन्दमय आत्मा में मिलित होता है। इसके बाद—अपनी इच्छा से अन्न और रूप लाभकर पृथिवी आदि विभिन्न लोक में भ्रमण कर ब्रह्मलाभ का ज्ञान प्राप्त करता है।

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो ३ ऽहमन्नादो ३ ऽहमन्नादः। अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि। यो मा ददाति स इदेव मा ३ वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा ३ द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्णज्योतीः। यः एवं वेद। इत्युपनिषत्॥

तैत्तिरीय ३।१०।६

"अन्न मैं, मैं हूँ। अन्न को भोजन करने वाला मैं अन्न व अन्न के भोक्ता का मिलन मैं ही करता हूँ। मैंने ही सब से पहले जन्म लिया है। व्यक्त व अव्यक्त जगत् का और देवों का ही मैं पूर्ववर्त्ती हूँ। अमरत्व मुझमें विद्यमान है। अन्नरूपी मुझको, जो अन्नार्थी को अन्न देते हैं वे ही मेरी रक्षा करते हैं। अन्नदान में विरत मनुष्य को अन्नरूपी मैं भोजन करता हूं। परमेश्वर रूप में सभी पृथ्वी का शासक मैं हूँ। आदित्य की तरह मेरी ज्योतियाँ सदा प्रकाशशील है।" यही परमार्थ तत्त्व है। जो ऐसा जानता है वह मोक्ष लाभ करता है।

[ब्रह्म प्राप्ति के सहायक से प्रतीक उपासना की बात कहा जाता है। गायत्री ब्रह्म की प्रतीक है। इसलिये गायत्रीकी उपासना कहा जाता है—]

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥

छान्दोग्य ३।१२।१

जो कुछ है सभी गायत्री है।[1] वाक् ही गायत्री क्योंकि यह वाक् प्राणी समूह का (नाम) गाती हैं और सबकी रक्षा करती है।

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाऽभ्यनूक्तम् ॥

छान्दोग्य ३।१२।५

यही वह गायत्री है। यह चार चरण विशिष्ट और छः प्रकार है। ऋक मन्त्र में यह गायत्री ही प्रकाशित हुआ है।

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

छान्दोग्य ३।१२।६

गायत्री निर्दिष्ट ब्रह्म की विभूति व समपरिमाण है। परन्तु पुरुष (पूर्णब्रह्म) उससे ही महत्तर है। क्योंकि जगत् प्रपंच उसका एक

---

(१) यहाँ गायत्री शब्द ब्रह्म का लक्षक है। गायत्री नाम के छन्द अवलम्बन कर उस गायत्री में अनुगत ब्रह्म में चित्त समाहित करना होगा। यही तात्पर्य है।

पादस्वरूप मंत्र[१] है। उसके अतिरिक्त तीन पाद अमृतमय है और दिव्यधाम है।

[अब सगुण ब्रह्म की उपासना कहा जाता है—]

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥

छान्दोग्य ३।१४।१

सभी ब्रह्मस्वरूप हैं। क्योंकि उससे ही पृथ्वी की उत्पत्ति, उसमें ही स्थिति और उसमें ही लय है। सुतराम् संयत चित्त से उनकी उपासना करो। मनुष्य अपने दृढ़ विश्वास का फलस्वरूप है। वह इस जीवन में जैसा विश्वासयुक्त होता है, वैसा ही देहान्त में गति होती है। सुतराम् दृढ़ विश्वासयुक्त होगा (अर्थात् भगवद् भाव में भावित होने के लिये योग्य उपासना[२] करेगा।)

---

(१) ब्रह्म में अंश रहने पर भी—मिथ्या जगत् की तुलना में ब्रह्म अनन्त, इसको समझाने के लिये उपदेश से अंश कल्पना कर कहा जाता है कि ब्रह्म एक ही अंश में ही विवर्तित होते हैं, परन्तु तीन अंश में वे अमृत या निर्विकार है।

(२) भाव विशेष को दीर्घकाल हृदय में धारण करना ही उपासना है। वर्तमान स्थल में, यह कहा जाता है कि तत्त्व निश्चय नहीं होने तक विशेष अधिकारी के लिये उपासना अवलम्बन करना होगा।

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः॥

छान्दोग्य ३।१४।२

वह मनोमय प्राणदेह विशिष्ट दीप्तिमान सिद्धसंकल्प, सर्वव्यापी, सभी कर्म का कर्ता, सभी कामना का कर्ता, सभी गन्ध व रस का आश्रय, जो ब्रह्माण्ड में वर्तमान, जिसमें कोई इन्द्रिय नहीं है और जो आग्रह-शून्य है।

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥

छान्दोग्य ३।१४।३

हृदपद्म में अवस्थित मेरा वही आत्म धान, यव सर्षप, श्यामाक या श्यामाक चावल से सूक्ष्मतर हृदपद्म में अवस्थित मेरा यह आत्मा पृथ्वी से ही विशाल, अन्तरीक्ष से बृहत् दिव्यलोक से महत इन सभी लोक से विशाल है।[1]

(१) पहले आत्मा को सूक्ष्म कहा गया है, परन्तु कोई समझे कि आत्मा अणु की तरह है, इसलिये उसको पृथ्वी आदि से बड़ा कहा गया है। पर मन ही हो सकता है कि आत्मा पृथ्वी आदि की तरह, इसलिये उसको अनन्त कहा गया है।

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्य-नादर एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसं-भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति...॥

छान्दोग्य ३।१४।४

सभी काम का कर्ता, सभी कामना का कर्ता, सभी गन्ध व सभी रस का आश्रय, जो ब्रह्माण्ड में वर्तमान है, जिसमें कई इन्द्रिय नहीं हैं और जो आग्रहशून्य है, वही हृदपद्म में अवस्थित मेरा आत्मा है। वही ब्रह्म है। इहलोक से जाकर हम इसको ही पावेंगे। जिसका ऐसा विश्वास है और जिसका इसमें कोई सन्देह नहीं है, वह ईश्वरत्व लाभ करना।

श्रौतकर्म

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः॥

श्वेताश्वतर ५।७

कर्म व उपासना सम्भूत ˙क स्युक्त सकाम कर्म में निरत मनुष्य स्वकीय कर्मफल भोग करता है। विविध देहधारी सत्त्वादि गुणयुक्त धर्म व अधर्मादि तीन मार्ग में गमनकारी व प्राण अपान आदि पंच प्राण का कर्ता, यह जीव अपना कर्म अनुसार में भ्रमण करता है।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥

मुण्डक १।२।६

सूरज किरण की सहायता से ज्योतिर्मय आहुतियाँ, उस यजमान को "आओ, आओ, यही तुम्हारा कर्मफल है, यही तुम्हारा अपना कर्मार्जित मार्ग है, यही ब्रह्मलोक है—ऐसी स्तुति व पूजन कर, वहन कर ले जाती है।

समान उ एवायञ्चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद् वा एतमिममसुं चोद्गीथमुपासीत॥

छान्दोग्य १।३।२

प्राण और सूर्य समतुल हैं। प्राण [१] गरम है सूरज भी गरम है। प्राण को गमनशील और सूरज को अस्त गमनशील व प्रत्यागमनशील कहा जाता है।[२] इसलिये ऐसा नामरूप युक्त प्राण व सूर्य रूप में "ॐ"कारकी उपासना करना चाहिये।

---

(१) जितने तक शरीर में प्राण रहता है, तबतक शरीर गरम लगता है।

(२) सूरज डूबने के बाद फिर लौटता है; परन्तु मृत देह में प्राण फिर नहीं लौटता है।

इष्टापूर्त

संवत्सरो वै प्रजापतिः। तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते, ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते ; त एव पुनरावर्तन्ते। तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥

प्रश्न १।९

सम्वत्सरको ही प्रजापति कहते हैं। उसका अपने अर्थात् माग दो हैं—दक्षिणायण व उत्तरायण। अग्निहोत्रादि पञ्च महा यज्ञ करता है और कूया, तालाब खननादि काम [1] चाव से करता है वह इस कर्म फल से केवल चन्द्रलोक को ही जय करता है और इसलिये उसका पुनर्जन्म होता है। सुतराम् जो स्वाभिलाषी व पुत्रकामी दक्षिणायण प्राप्त होता है। जो पितृयान वही अन्न है। सुतराम् स्वर्गद्रष्टा सन्तानार्थी गृहस्थगण दक्षिण मार्ग प्राप्त होते हैं। जो पितृ माग वही अन्न है।

निष्काम कर्म

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूय-
स्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।

---

(१) इष्ट—अग्निहोत्रं तपः सत्यं भूतानांचानुकम्पनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥
पूर्त—वापीकूप - तड़ागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामं पूर्तमित्यभिधीयते ॥

एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा
कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥

श्वेताश्वतर ६।३

भगवान के उद्देश्य में कम कर फिर कर्म से निवृत्त होकर एक, दो व आठ[१] अवलम्बन से और दैवी गुण व बहुजन्मार्जित पुण्य फल से इस जीवन में या पर जन्म में समष्टि के साथ व्यष्टिका संयोग विधानकर साधक मुक्ति लाभ करते हैं।

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥

श्वेताश्वतर ६।४

जो योग युक्त (ईश्वरार्पित बुद्धि) होकर सभी काम करता है और प्रकृत व तत्सम्भूत सभी वस्तु को परब्रह्म में अपण करता है वह स्वरूप में अवस्थित, व संसारातीत होता है। प्रकृति व तत्सम्भूत सभी पदार्थ नाश होने से उसका प्रारब्ध[२] भिन्न दूसरा सभी कर्म नाश होता है। और प्रारब्ध क्षय होने से वह त्रिदेह मुक्ति लाभ करता है।

---

(१) एक गुरु सेवा ; दो गुरु भक्ति व ईश्वर प्रेम ; तीन श्रवण, चिन्तन, ध्यान ; आठ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि।

(२) पूर्व पूर्व जन्म में अर्जित जिस कर्म के फल में वर्तमान देह हुआ है।

जन्मान्तर

इस पंच भूतात्मक स्थूल देह का अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व केवल चार्वाक भिन्न दूसरे सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। सुतराम् मृत्यु काल में इस स्थूल देह को छोड़कर आत्मा या जीव नामक वस्तु कहाँ जाता है कैसे ही दूसरा देह धरता है इस प्रश्न के समाधान के लिये मुनि ने जो सोचा है, उसीं से जन्मान्तर सिद्ध हुआ है। वह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण कई भोग देह का आश्रय के अलावा शुभ या अशुभ कई कर्म फल भोग नहीं कर सकता है। सुतराम् इस स्थूल देह को छोड़ने के बाद संचित कर्म फल भोग करने के लिये जहाँ जिस अवस्था में जीव रहता है, वह ही परलोक वा जन्मान्तर नाम से प्रसिद्ध है।

जन्म

तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥

. अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥

छान्दोग्य ५।१०।५-६

[विदेही जीव] कर्म फल क्षय नहीं होने तक चन्द्रलोक में वास करता है। उसके बाद जिस प्रकार में गया था उसी प्रकार से उसी मार्ग में पुनः लौटता है। पहले आकाश में, आकाश से वायु में, वायु से धूम में, धूम से अभ्र में, अभ्र से मेघ में, मेघ से (बारि रूप से) वर्षित होता है। फिर वे इस पृथ्वी में व्रीहि, यव औषधि वनस्पति, तिल, आदि रूप में पैदा होते हैं। (इन व्रीहि यव आदि से बाहर होना बहुत कष्ट साध्य है—कोई इनको खाता और सन्तान उत्पादन करता है वह रूप धारण कर जीव रूप से जन्मता है।)

तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥

छान्दोग्य ५।१०।७

इसमें जिनका इहलोक में पूर्वार्जित शुभकर्मफल अवशिष्ट है, वे शीघ्रता से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यरूप में जन्मते हैं। फिर जिनका इहलोक में अर्जित अशुभ कर्मफल अवशिष्ट है, वे शीघ्रता से ही कुत्ता, शूकर या चण्डालरूप में जन्मते हैं।

मृत्यु[1]

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूल-

---

(१) जीव कभी नहीं मरता है। जीव के साथ देह का सम्बन्ध ही जन्म और सम्बन्ध का विनाश ही मृत्यु है।

मन्बिच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ॥

छान्दोग्य ६।८।६

पानी के अलावा कहाँ इसका मूल रह सकता है ? हे सौम्य इस अंकुर को अवलम्बन कर तेजरूप मूलको अन्वेषण करो। तेज-अंकुर अवलम्बन कर सत्रूप मूल को जानने की चेष्टा करो। सभी प्राणी इस सत् से पैदा हुए हैं, सत् में अवस्थित है, परिणाम में सत् में विलीन होता है। ये तीन देवता (तेज, अप्, क्षिति) पुरुष से मुक्त होकर जैसा त्रिवृत्[1] होते हैं वह पहले कहा गया है। हे सौम्य, महाप्रस्थान काल में पुरुष के इन्द्रिय समूह मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परम देवता में संहृत होते हैं।

---

(१) त्रिवृतकरण—वेदान्त का पंचीकरण। त्रिवृत् प्रक्रिया ऐसा है—प्रतिमहाभूत को प्रधान रूप में ग्रहण कर दूसरा अप्रधान दोनों को उसके साथ मिलित करना होगा। जैसे—

(सूक्ष्म) तेज $\frac{1}{2}$+जल $\frac{1}{4}$+पृथ्वी $\frac{1}{4}$=स्थूल-तेज ;

(सूक्ष्म) पृथ्वी $\frac{1}{2}$+तेज $\frac{1}{4}$+जल $\frac{1}{4}$=स्थूल-पृथ्वी ;

(सूक्ष्म) जल $\frac{1}{2}$+तेज $\frac{1}{4}$+पृथ्वी $\frac{1}{4}$=स्थूल-जल।

अथ यत्रैतद्बलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥

छान्दोग्य ८।६।४

इसके बाद जब कोई ऐसा (रोगादि निबन्धन) हीनबल होता है, तब उसके चारों ओर से मनुष्य पूछते हैं—"क्या मुझको पहचानते हो ? मुझको पहचानते हो ?" जबतक वह देह से बाहर नहीं जाता है, तबतक वह पहचानता है ।

अथ यदाऽस्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥

छान्दोग्य ६।१५।२

इसके बाद जब उसका वाक् मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परम देवता में विलीन होता है, तब वह नहीं पहचानता है ।

मृत्यु अन्ते गति

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जनाः ॥

बृहदारण्यक ४।४।११

ये तत्त्वज्ञानहीन और अबोध, मृत्यु के बाद वे निरानन्दमय अज्ञानाच्छन्न लोक में जाते हैं ।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

ईश ३

ज्योति विहीन घोर तमसाच्छन्न ये लोक[1] हैं, मृत्यु के बाद अविवेकीगण वहाँ जाते हैं।

जन्मान्तर

स्थूलाणि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥

श्वेताश्वतर ५।१२

देहधारी अपना (सात्त्विक, राजसिक और तामसिक) भावानुसार में जो शुभ या अशुभ काम करता है, उसके लिये और अपने अन्तःकरण के भावानुसार में स्थूल, सूक्ष्म आदि विभिन्न देह लाभ करता है। उसका ऐसा विभिन्न देह के संयोग का दूसरा कारण भी (अर्थात् पूर्वसंस्कार) मिलता है।

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छाया, एतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिन्शरीरे ॥

प्रश्न ३।३

यह प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। मनुष्य देह के साथ जैसा (अलीक) छाया रहता है, वैसा ही इस परमेश्वर में यह प्राण नामक वस्तु (छाया की तरह) अर्पित रहा है और मन का संकल्प व क्रियादि अनुसार यह इस देह में प्रवेश करता है।

(१) कर्मफल वहाँ अवलोकित या भुक्त होता है; अर्थात् विभिन्न जन्म।

आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म

यह देखा जाता है कि जो वस्तु ससीम है वह ही कई स्थानों में असीम होती है। परिमाणको इसके बारे में उदाहरण रूप में ला सकता है। परिमाण सभी जगह में सीमित होने पर भी वह आकाश में असीम है। सुतराम् ज्ञान साधारणतः ससीम होने पर भी किसी एक क्षेत्र में वह असीम होगा ही। वह ज्ञानस्वरूप ही ब्रह्म है। अस्तित्व व सत्ता और आनन्द के बारे में ही यह युक्ति एक ही तरह से प्रयोज्य है। सुतराम् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म यही अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है। अविद्यारूप उपाधि के प्रभाव से ब्रह्म असीम होने पर भी ससीम की तरह लगता है और उस ससीम अवस्थाको ग्रहण कर "मैं" "तुम" आदि खंड-खंड रूप से वस्तु को हम समझते हैं। ठीक से विचार करने से देखा जाता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त किसीकी सत्ता नहीं है। इसलिये अद्वैत वेदान्त "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस सिद्धान्त में उपनीत हुआ है।

अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

कठ १।२।२०

सूक्ष्म से सूक्ष्म, महत् से महान् यह आत्मा प्रति प्राणी के हृदय गुहा में अवस्थित है। कामना रहित विशुद्ध चित्त मानव इस आत्मा की महिमा देखता है और शोकातीत होता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्-
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

कठ १।२।१८

ब्रह्म नहीं जन्माते हैं। उनकी मृत्यु भी नहीं है। वे दूसरे किसी कारण से पैदा नहीं होते हैं। यह किसी वस्तु से भी नहीं पैदा होता है। वे जन्म-रहित, चिरस्थायी, अविनाशी और परिवर्तन रहित हैं। देह के नाश से उनका नाश नहीं होता है।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

कठ १।२।१९

यदि घातक सोचता है कि वह हत्या करता है। यदि निहत मनुष्य भी सोचता है कि वह निहत हुआ है, परन्तु वे दोनों भी नहीं जानते हैं कि, आत्मा हत्या भी नहीं करता है या हत भी नहीं होता है।

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीर-स्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै

स्वशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥

छान्दोग्य ८।१२।१

(ब्रह्मा कहते हैं) "हे इन्द्र, यह देह मरणशील और मृत्यु का अधीन है, अविनाशी अशरीरी आत्मा का यह अधिष्ठाता है। शरीराभिमानी सुख-दुःख का भोग करनेवाला होता है। देह में "मैं" इस बुद्धियुक्त मनुष्य के सुख-दुःख का विरति नहीं है। देहाभिमानरहित मनुष्य को सुख-दुःख नहीं स्पर्श करता है।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥

श्वेताश्वतर ६।१६

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

श्वेताश्वतर ६।२०

जैसा चर्म को संकुचित कर कोई मनुष्य आकाश को आवृत नहीं कर सकता है, वैसा ही निरवयव, निष्क्रिय, शान्त, अनिन्दनीय निरंजन, मुक्ति का श्रेष्ठ उपाय, इन्धनविहीन अग्नि की तरह सब उपाधिवर्जित ज्योतिर्मय को (ब्रह्मको) न जानने से किसीके दुःख का अन्त नहीं होता है।

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥

छान्दोग्य ८।४।१

सेतु स्वरूप यह आत्मा सवलोकों को धारण कर रहा है, जैसे ये सब अलग नहीं हो सकते हैं। दिन या रात्रि, जरा या मृत्यु या शुभकार्य या अशुभकार्य, कोई भी इसको अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं। सभी पाप इससे निवृत्त होते हैं; क्योंकि यह ब्रह्म सभी पाप का अतीत है।

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम
महत् पदमत्रैतत् समर्पितम्।
एजत् प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं
परं विज्ञानाद् यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥

मुण्डक २।२।१

सभी प्राणी के हृदय में स्थित स्वप्रकाश ब्रह्म हृदयवासी नाम से कथित है। वह एक ही आश्रय है, क्योंकि उसमें सचल पक्षी आदि प्राणादियुक्त, मनुष्य आदि निमेषयुक्त और निमेषशून्य जो कुछ है, उसमें सभी अर्पित हैं। जो इन जीवों का ज्ञान का अतीत है, स्थूल व सूक्ष्म रूप, पूज्य व श्रेष्ठ उसको जानना होगा।

यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु च
यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः
तदेतत् सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥

मुण्डक २।२।२

जो दीप्तिमान, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, स्थूल-से-स्थूल, जिसमें लोकसमूह व उनके अधिवासीगण स्थित हैं, वह ही अविनाशी ब्रह्म है। वह ही प्राण, वाक्, मन, सत्य और अमृत स्वरूप है। हे सौम्य, उसको जानने की चेष्टा करो, उसको जानो।

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मे सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।१

सभी प्राणी का मधु यह पृथ्वी, इस पृथ्वी का मधु सभी प्राणी। जो इस पृथ्वी में तेजोमय, अमृतमय पुरुष, जो शरीर में आत्मारूप में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वह ही मधु है। वह ही आत्मा है। वह ही अमृतस्वरूप है, वह ही ब्रह्म है। वह ही सब है।

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्म दं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।२

यह पानी सभी भून का मधु है, भूत समूह इस पानी का मधु है। इस पानी में जो अमृतमय तेजोमय पुरुष; रेत में आत्मा रूप में तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह ही मधु है। यही आत्मा यही अमृत स्वरूप, यही ब्रह्म, सभी यही है।

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृत-मिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।३

यह अग्नि सभी प्राणी का मधु है। प्राणी समूह भी इस अग्नि का मधु है। इस अग्नि में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है, देह में जो आत्मा रूप में तेजोमय, अमृतमय पुरुष यह भी मधु, यह भी आत्मा, यह भी अमृत स्वरूप, यह भी ब्रह्म, सभी यह हैं।

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चाय-मध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मे-दममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।४

यह सभी प्राणी का मधु, प्राणीसमूह भी इस वायु का मधु है। इस वायु में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष, देह में जो आत्मा रूप में

तेजोमय, अमृतमय पुरुष है यह ही मधु है। यह ही आत्मा, यही अमृतस्वरूप यही ब्रह्म, सभी यह है।

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।५

यह आदित्य सभी प्राणी का मधु है। प्राणी समूह इस आदित्य का मधु है। इस आदित्य में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष, देह में जो आत्मा रूप में तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं—यही मधु, यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप, यही ब्रह्म सभी यही हैं।

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं श्रोत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वं ॥

बृहदारण्यक २।५।६

ये दिकसमूह सभी प्राणी का मधु है। प्राणीसमूह के दिकसमूह का मधु है। इन दिकसमूह में तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं, देह में जो आत्मारूप में तेजोमय अमृतमय पुरुष—यही मधु है। यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप, यही ब्रह्म, सभी यही हैं।

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।७

यह चन्द्रमा सभी प्राणी का मधु है। प्राणीसमूह इस चन्द्रमा का मधु है। इस चन्द्रमा में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है। देह में जो आत्मारूप में तेजोमय अमृतमय पुरुष है—यही मधु, यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप, यही ब्रह्म, सभी यही हैं।

इयं विद्युत् सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।८

यह बिजली सभी प्राणी का मधु है। प्राणीसमूह इस बिजली का मधु है। इस बिजली में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है, देह में जो आत्मारूप में तेजोमय अमृतमय पुरुष—यही मधु है। यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप यही ब्रह्म, सभी यही हैं।

अयं स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो

यश्चायमध्यात्मं शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।९

यह मेघगर्जन सभी प्राणी का मधु है। प्राणीसमूह इस मेघगर्जन का मधु है। इस मेघगर्जन में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है। देह में जो आत्मारूप में तेजोमय अमृतमय पुरुष है—यही मधु है। यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप, यही ब्रह्म, सभी यही हैं।

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।१०

यह आकाश सभी प्राणी का मधु है। प्राणीसमूह इस आकाश का मधु है। इस आकाश में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष—यही मधु है। यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप, यही ब्रह्म, सभी यही हैं।

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।११

यह धर्म सभी प्राणी का मधु है। प्राणीसमूह, इस धर्म का मधु है। इस धर्म में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, देह में जो आत्मा रूप में तेजोमय अमृतमय है—यही मधु है, यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप, यही ब्रह्म सभी यही हैं।

इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चाय-मध्यात्मं सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदम-मृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।१२

यह सत्य (अर्थात् अनुष्ठीयमान, आचार रूप धर्म) सभी प्राणी का मधु है, प्राणीसमूह इस सत्य का मधु है। इस सत्य में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है—यही मधु है। यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप यही ब्रह्म, सभी यही हैं।

इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।१३

यह मनुष्य जाति सभी प्राणी का मधु है। प्राणीसमूह इस मनुष्य

जाति का मधु[१] है। इस मनुष्य जाति में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं। देह में जो आत्मारूप में तेजोमय अमृतमय पुरुष है—यही मधु है। यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप, यही ब्रह्म सभी यही हैं।

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

बृहदारण्यक २।५।१४

यह आत्मा (अर्थात् मनुष्यादि जाति विशिष्ट और सर्वप्राणी व देवतागण विशिष्ट यह विराट देह) सभी प्राणी का मधु है, सभी प्राणी इसका मधु है, उस विराट देह में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष रूपी यह (विज्ञानमय) आत्मा (अर्थात् हिरण्यगर्भ) यही मधु है। यही आत्मा, यही अमृतस्वरूप, यही ब्रह्म, सभी यही हैं।

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद् यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥

बृहदारण्यक २।५।१

---

(१) मनुष्य जाति शब्द से यहाँ सभी जीव जाति को समझना ही होगा। धर्म से परिचालित देहेन्द्रिय समष्टि विभिन्न जाति का अन्तर्भुक्त होता है। इससे मनुष्यादि जाति विशिष्ट होकर विभिन्न प्राणी परस्पर का उपकार होता है।

जो कुछ है सभीका अधिपति यह आत्मा है। वही सभी का राजा है। रथचक्र का नाभि और परिधि में जैसा चक्रशलाका ही संयोजित रहता है, वैसा ही इस परमात्मा में सभी प्राणी, सभी देवता, सभी लोक, सभी इन्द्रिय, और सभी जीवात्मा संयुक्त हैं।

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैत भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राड़िति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवा-नन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥

बृहदारण्यक ४।३।३२

याज्ञवल्क्य सम्राट को उपदेश देते हैं—वह पानी है (पानी की तरह स्वच्छ) वह एकाकी, साक्षी व द्वितीय हीन है। वही ब्रह्म रूप लोक, जीव की परम गति, परम विभूति, श्रेष्ठ आश्रय, और परमानन्द है। दूसरे प्राणी इस आनन्द को अवलम्बन कर जीवन धारण करते हैं।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः॥

बृहदारण्यक ४।४।२०

वह अज्ञेय ध्रुव है। उसको एक ही भाव में देखना होगा। यह आत्मा निष्पाप मूल प्रकृति का अतीत, जन्मरहित महत् और अविनाशी[1] है।

(१) अप्रमेय—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि, प्रमाण से अज्ञेय, परन्तु श्रुति से ज्ञेय है। परन्तु श्रुति साक्षात् प्रकार में स्वर्गादि विषय की तरह ब्रह्मो-

"'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् ॥

वृहदारण्यक ४।५।६

वस्तु के लिये वस्तु प्रिय नहीं होता ह। आत्मा के लिये सभी वस्तु प्रिय होते हैं। हे प्रिय! आत्मा का दशन लाभ के लिये यत्नवान होना चाहिये। उनके विषय में सुनना, उनके बारे में सोचना और उनके विषय में ध्यान करना उचित है। हे मैत्रेयि! केवल आत्मा का दर्शन लाभ होने से उनके बारे में सुनने से उनके विषय में सोचने से सभी जाना जाता है।

पदेश नहीं देती है। परन्तु—ज्ञात य, ज्ञान आदि निषेध से (२।४।१४) "नेति" शब्द से परब्रह्म का निर्देश करती है। सुतराम् "अप्रमेय" व "अनुद्रष्टव्य" कहना अयौक्तिक नहीं है। ब्रह्म में आत्मभाव करना अर्थात् अनात्म विषय में आत्मभाव त्याग करना ही ब्रह्मज्ञान है।

विद्या, ज्ञान और ज्ञान का फल

वस्तुका यथार्थ स्वरूप जिस ज्ञान के सहारे प्रकाशित होता है, वही विद्या या ज्ञान पदवाच्य है। सुखलाभ व दुःख परिहार की इच्छा से ही मनुष्य सभी विषयों में प्रवृत्त होता है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप लाभ होने से ही वह प्रवृत्ति सार्थक होती है। ज्ञान के सहारे पहले हमलोग वस्तु से परिचित होते हैं। उसके बाद वह वस्तु अनुकूल या प्रतिकूल यह ठीक कर वस्तु को ग्रहण या वर्जन के लिये चेष्टा करते हैं। सुतराम् ज्ञान के सहारे यदि वस्तु का प्रकृत स्वरूप प्रकाशित नहीं होता है, तभी ज्ञानोद्दिष्ट वस्तु का ग्रहण या वर्जन स्वभाविकता से सम्भव पर नहीं है।

सुतराम् जीवन का चरम उद्देश्य सिद्धि का जो मूल है, वही वस्तु का स्वरूप प्रकाशक ज्ञान या विद्या। अविद्या या अज्ञान प्रति पद में ही जीवन का प्रसारण विरोधी होता है। सुतराम् उस अविद्या का नाशक रूप से विद्या या तत्त्वज्ञान जीवन की उद्देश्य सिद्धि के लिये सहायक होता है। लौकिक प्रत्यक्ष का अनधिगम्य सच्चिदानन्दमय ब्रह्म का स्वरूप निर्देशक रूप से उपनिषद प्रतिपाद्य ज्ञान की ही आवश्यकता है।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढ़े।
क्षरन्त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

श्वेताश्वतर ५।१

जो कुछ विनाशशील है, वही अज्ञान (अविद्या) है। जो कुछ अविनाशी है वही ज्ञान (विद्या) है। यह ज्ञान व अज्ञान जो अनन्त ब्रह्म में अव्यक्त रूप में निहित है और जिससे यह अविद्या व विद्या नियंत्रित है, परन्तु वह ज्ञान या अज्ञान का ऊपर है।[१]

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

मुण्डक २।२।३

हे सौम्य, उपनिषदोक्त (ओंकार रूप) महास्त्र धनुष ग्रहण कर उसमें गम्भीर मनन से शाणित शर [२] सन्धान करो, ब्रह्म ध्यान में निविष्ट चित्त होकर पर ब्रह्म रूप धनुष आकर्षण कर लक्ष्य में अक्षर को भेद करो।

१। उपनिषद्के मतमें स्वप्रकाश नित्य ब्रह्म ही ज्ञानस्वरूप है। (तैत्तिरीय २।१।३) अनादि अविद्या केवल ऐसा यथार्थ ज्ञान से विनष्ट होता है। साधारण लौकिक ज्ञान को हम ऐसा समझते हैं कि उसमें दो अंश हैं, एक विषयांश दूसरा प्रकाशांश। वह प्रकाशांश ही ब्रह्म स्वरूप ज्ञान है। विषयांश कल्पित मात्र है। सुतराम् सभी ज्ञान के विषयांश को ज्ञान से पृथक् करने से जो रहता है, वह नित्य व सत्यस्वरूप है।

२। "प्रणव के सहारे जो चैतन्य प्रतिबिम्ब स्फुरित होता है, वह ही आत्मा"—ऐसी चिन्ता का नाम प्रणव में शर सन्धान। इस चित् प्रतिबिम्ब के साथ बिम्बभूत ब्रह्म का ऐक्य सन्धान ही लक्ष्य भेद। ऐसी चिन्ता में असमर्थ होने पर—"ओम्" प्रतीक में ब्रह्म दृष्टि करना होगा।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

मुण्डक २।२।४

ॐकार धनुष, जीवात्मा, वाण और ब्रह्म ही लक्ष्य हैं। अप्रमाद होकर इस लक्ष्य को भेद करना होगा। तभी वाण और लक्ष्य जिस प्रकार युक्त होते हैं, उस प्रकार होगा।

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्
ओतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानम्
अन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥

मुण्डक २।२।५

जिस में देवलोक, पृथ्वी, अन्तरीक्ष, और समुदय इन्द्रियों के साथ मन समर्पित है, केवल उस आत्मा को ही जानो। दूसरे सबको परित्याग करो। यही अमृतत्व लाभ का उपाय है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ॥

मुण्डक २।२।६

जैसा चक्रशलाका रथचक्र के नाभि में संयुक्त रहती हैं, वैसा ही जो हृदय में नाड़ियाँ प्रविष्ट है, वह पुरुष हृदय में बहुरूप में अनुभूत

होता है। उस आत्मा का ओंकार रूप में ध्यान करो। अज्ञान के पार में जाने वाले तुम्हारा मंगल हो।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥

मुण्डक २।२।७

जो सर्वज्ञ, सर्वविद् और जिसकी महिमा विश्वव्यापी है, वह आत्मा ही आत्मा का आवास स्थान ज्योतिर्मय हृदयाकाश में अवस्थित है। जो मनोमय और प्राण व सूक्ष्म देहका चालक है, उस स्थूल देह में हृदय में आनन्द स्वरूप में अवस्थित होकर प्रकाश होता है। उसको (आत्मा) विवेकीगण विशेष ज्ञान के सहारे देखते हैं।

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-
स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥

मुण्डक ३।२।१

समग्र विश्व जिसमें निहित और जो निर्मल ज्योति से प्रकाशमान, उस परम आश्रय ब्रह्म को वह (ब्रह्मज्ञ) जानता है। सभी कामना

रहित जो ज्ञानी मनुष्य ब्रह्मज्ञ पुरुष की सेवा करते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता है।

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्य-
थेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥

श्वेताश्वतर ३।१०

जगत् और जगत् के कारण से जो ऊपर में है वे अरूप व ग्लानि-शून्य हैं। इस तत्त्व को जो जानते हैं, वे अमर होते हैं। फिर जो इसको नहीं जानते हैं, वे दुःख भोग करते हैं।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥

श्वेताश्वतर ४।१४

सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, (संसार रूप) महा वन के भीतर में अवस्थित, जो विश्व का स्रष्टा है बहु रूप में प्रकाशमान है और विश्व का एक ही परिव्यापी है, मंगलमय उनको जानने से परा शान्ति लाभ होती है।

स एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।

यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥

श्वेताश्वतर ४।१५

यथा काल में (कल्पारम्भ में) वेही विश्व के रक्षक, ब्रह्माण्ड के अधिपति होकर साक्षी रूप में सभी प्राणी के अन्तर में रहते हैं। ब्रह्मर्षि, देवता जिस परब्रह्म में युक्त हैं, उनको जानने से मृत्युपाश छिन्न होता है।

घृतात् परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढ़म्
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

श्वेताश्वतर ४।१६

घी के ऊपर में मलाई की तरह अति मनोरम व सूक्ष्म, सभी प्राणियों का हृदयस्थ मंगलमय, विश्व के एक ही आवरक परम देवता को जानने से सभी बन्धनों से मुक्ति होती है।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

श्वेताश्वतर ४।२७

ज्योतिर्मय, समग्र विश्वका सृजन कर्ता सर्वव्यापी ये सदा के लिये प्राणी के हृदय में सूक्ष्म रूप में अवस्थित हैं। ये अज्ञानता नाशक विवेक व अभेद ज्ञान के सहारे अभिव्यक्त होते हैं। इनको जो जानते हैं, वे अमृतत्व लाभ करते हैं।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥

केन २।४

बुद्धि के प्रति विश्वास से जब आत्मा रूप में प्रतीत होते हैं, तभी ठीक ज्ञान होता है। क्योंकि इस ज्ञान के फल से मोक्ष लाभ होता है। आत्मा से वीय लाभ होता है और आत्मज्ञान से अमृतत्व लाभ होता है।

यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानमनन्ते।
स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥

केन ४।९

इस ब्रह्म विद्या को जो इस प्रकार में लाभ करते हैं उनका सभी पाप (कर्म फल) निःशेषित होता है और वे श्रेष्ठ स्वर्ग लोक में (अर्थात् पर ब्रह्म में) प्रतिष्ठित होते हैं।[१]

---

(१) स्वर्ग शब्द साधारण अर्थ में अर्थात् देवलोक अर्थ में गृहीत नहीं हो सकता है। क्योंकि देवलोक सर्व महत्तम या अनन्त नहीं है। स्वर्ग विनाशी। ब्रह्म ही दूसरे सभी से महत्

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

कठ २।२।१२

जो एक है, सभी जिसके अधीन हैं, जो सभी का अन्तरात्मा और एक रूप को विविध भावों में प्रकाश करता है, उस आत्मस्थ परमात्मा को जो देखते हैं, वे अनन्त सुख के अधिकारी होते हैं दूसरे नहीं।[१]

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
एको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

कठ २।२।१३

सभी क्षण स्थायी वस्तु के भीतर जो (एक ही) अविनश्वर, सचेतनों के भीतर जो चैतन्य स्वरूप, जो एकक होकर भी सभी प्राणी का कर्म फल विधान करते हैं, जो विवेकी हृद गुहा में अवस्थित उनका दर्शन करते हैं, वे चिर शान्ति के अधिकारी होते हैं, दूसरे नहीं।

---

(१) पराधीनता और दूसरे से अल्प गुणवत्ता आदि दुःख का कारण होता है। ब्रह्म सर्वेश्वर और अद्वितीय, इसलिये उसमें दुःख नहीं है। सुतराम् उसकी प्राप्ति ही आनन्दरूप परम पुरुषार्थ है।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥

कठ २।३।८

सर्वव्यापी अननुमेय जो परमात्मा को जानकर जीव बन्धन मुक्त होते हैं, और अमृतत्व लाभ करते हैं, वे मूल प्रकृति के अतीत हैं।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः, समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते—एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोड़शकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति...॥

प्रश्न ६।५

समुद्र में बहती नदियाँ जैसे समुद्र में मिल जाती हैं, उनका नाम या रूप कुछ भी नहीं रहता है और वे समुद्र नाम से कही जाती हैं—वैसा ही विज्ञानी का ब्रह्मावगाही प्राणादि षोड़श कलाएँ ब्रह्म को प्राप्त होकर उसमें विलीन हो जाती हैं, उनका नाम रूप नहीं रहता है। वह विज्ञानी केवल "पुरुष" इस नाम से कहा जाता है। ऐसा विद्वान कालातीत व अविनाशी है।

तान् होवाच—एतावदेवाहमेतत् परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति ॥

प्रश्न ६।७

वे शिष्यों से कहते हैं कि—ब्रह्म विद्या विषय में मेरा ज्ञान सीमित है। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानना होगा।

जीवन्मुक्ति

सभी काम तीन भागों में विभक्त हैं :—सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। जो कर्म संस्कार रूप में हृदय में पुञ्जीभूत है, परन्तु उसका कहीं भी फल नहीं आरम्भ हुआ है, वही संचित कर्म है। जिस कर्म-समूह का फल भोग करने के लिये इस स्थूल देह ग्रहण रूप जन्म हुआ है वही प्रारब्ध है। वर्तमान जन्म में जो कर्म अनुष्ठित होकर भविष्य में फलदान करेगा वही क्रियमाण कर्म है। इन त्रिविध कर्मबन्धन में बद्ध होकर मनुष्य जन्म व मरण रूप संसार-चक्र में आवर्तित होता है।

तत्त्वज्ञान की सहायता से अविद्या पूर्ण विनष्ट होने से अविद्यामूलक संचित कर्मसमूह दग्ध बीज की तरह असार होते हैं और क्रियमाण कर्म भी भविष्य में फलदायक नहीं होता है। इस अवस्था में तत्त्वज्ञानी महापुरुष प्रारब्ध कर्म की समाप्ति नहीं होने तक देह धारण कर विद्यमान रहता है। योगी की इस अवस्था को ही जीवन्मुक्ति नाम से कहा जाता है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

मुण्डक ३।१।९

प्राणी के इन्द्रिय समूह और प्राण आत्मा से सम्पूर्ण रूप से परिव्याप्त है। चित्त प्रसन्न होने से आत्मा अपने को विशेष भाव में प्रकाश करता

है। जिस देह में प्राण पाँच प्रकार में अनुप्रविष्ट है, उस देह में ही निर्मल चित्त से इस सूक्ष्म आत्मा को जानना होगा।[१]

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥

मुण्डक ३।२।२

विषय का ध्यान कर जो विषय-कामना करता है, वह वासना से उस स्थान में (काम्य विषय में) जन्म लेता है। फिर जो पूर्णकाम, वह आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित है, उसकी सभी वासनायें इस जीवन में ही विलुप्त हो जाती हैं।

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥

मुण्डक ३।२।५

(१) दूध में घी की तरह, लकड़ी में अग्नि की तरह ब्रह्म देह औ इन्द्रियादि में सर्वत्र अनुस्यूत है। तो भी चित्त में ही उसका विशेष प्रकाश है। और चित्तवृत्ति से ही इन्द्रियादि का विषय अभिव्यञ्जित होता है। इसलिये मनुष्य चित्त को चेतन समझ कर भूल करता है। यह चि निर्मल होने से योगिगण उसमें ब्रह्म की पूर्ण उपलब्धि करते हैं।

मुनि इस आत्मा को पूर्ण रूप से जानकर इस आत्मज्ञान में ही परितृप्त हैं, आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, आसक्ति-शून्य व निर्विकार होते हैं। वे समाहित चित्त धीर मनुष्य सर्वव्यापी ब्रह्म को सभी जगह में लाभकर (अन्त काल में) इस सर्वस्वरूप में ही प्रवेश करते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
सन्न्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

मुण्डक ३।२।६

वेदान्त विज्ञान का तात्पर्य जिसके पास परिस्फुट, संन्यास-योग की सहायता से जिसका चित्त शुद्ध हुआ है, वह यति (जीवित काल में ही) ब्रह्मैकत्व ज्ञानरूप में परमानन्द लाभ करता है और अन्त काल में निर्वाण प्राप्त होता है।[1]

(१) साधारण मनुष्य के देह त्याग चरम अन्त काल नहीं है, क्योंकि वे पुनर्जन्म लाभ करते हैं। मुक्त पुरुष दूसरी जगह में नहीं जाते हैं। घट तोड़ जाने के बाद जैसा घटाकाश महाकाश में एकीभूत होता है, वैसे ही वे सर्वव्यापी ब्रह्म में विलीन होते हैं।

मोक्ष

सभी दुःखों की चिर निवृत्ति या अनाविल चिर आनन्द लाभ करना ही सभी प्राणी जीवन के एक ही उद्देश्य को मूल केन्द्र कर जीव समाज प्रति कर्म में प्रवृत्त होता है ! तो भी आप्राण चेष्टा कर ही दुःख की चिर निवृत्ति या परिपूर्ण सुख लाभ करना प्राणी के लिये साधारणतः सम्भव नहीं होता है। परम सुखकर मान कर मनुष्य जिनको ग्रहण करता है, विनश्वर वस्तु की क्षणभंगुरता के प्रभाव से गृहीत वह वस्तु अपना ही भंग जाता है। किसी क्षेत्र में अभिलाषित वस्तु लाभ कर ही उससे अधिक सुख की आशा से मनुष्य का मन चञ्चल होता है।

विश्व प्रकृति को अपना सुख लाभ का अनुकूल रूप में परिणत करने के लिये मनुष्य इस सीमित पृथ्वी का सभी वस्तुमें सन्तुष्ट नहीं होकर वर्तमान में असीम महाकाश की जय करने के लिये तत्पर हुआ है। तो भी मनुष्य की आशा का विराम नहीं हुआ है। मनुष्य सुख की खोज में उल्का को तरह दौड़ रहे हैं। एक ही स्थिर सत्य वस्तु को लाभ करने से ही मनुष्य की चाह और पाना की निवृति होती है। यह अवस्था ही शास्त्र में मोक्ष नाम से कही गयी है।

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानम् आचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥

छान्दोग्य २।२३।१

धम के अंग तीन हैं। प्रथम अंग—यज्ञ, अध्ययन व दान। द्वितीय अंग—तपस्या। कृच्छ्र साधक नैष्ठिक ब्रह्मचारी रूप में आजीवन गुरु-गृह में बास करना ही तृतीय अंग है। इस तीन उपायों से ही पुण्य-लोक लाभ होता है। फिर तो ब्रह्मोपासक उसका अमृतत्व लाभ होता है।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

मुण्डक १।२।११

ये भिक्षाजीवी वाणप्रस्थाश्रमी व सन्न्यासी वन में वासकर, और ये शान्तचित्त सदसत् विचारशील गृही श्रद्धा से अपना आश्रमोचित-उपासना में निरत रहते हैं उनका सभी कर्म क्षय होता है। वे उत्तरायण मार्ग में अविनाशी अक्षर-हिरण्यगर्भ-लोक में जाते हैं।

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

श्वेताश्वतर २।१५

हृदयस्थ दीप शिखा की तरह अपना आत्मा के साथ ब्रह्मतत्व अभिन्न हैं यह जब साधक अपरोक्ष भाव से समझते हैं तभी वे जन्मरहित, नित्य, सर्व प्रकार में विशुद्ध परमात्मा को जानकर सभी बन्धन से मुक्त होते हैं।

य एको जालवानीशत ईशनीभिः
सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

श्वेताश्वतर ३।१

जो एकाकी है, माया शक्ति युक्त है, अपनी शक्ति के सहारे शासन करता है, जो एक होकर भी अपनी शक्ति से अभ्युदय व उत्पत्ति काल में सभी प्राणी को नियंत्रित करता है—(उसका) इस तत्त्वको जो जानते हैं वे अमतत्व लाभ करते हैं।

यथैव विम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥

श्वेताश्वतर २।१४

मिट्टी के संयोग से मलिन सोने का पिंड जैसा अग्निसे शोधित होकर उजाला होता है, वैसा ही आत्म तत्त्व का साक्षात् कर योगी परमात्मा के साथ एक, कृत कृतार्थ और शोक रहित होते हैं।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।

केन २।५

यही जीवन में जिसने ब्रह्म ज्ञान लाभ किया है वही कृत कृत्य हुआ है। परन्तु जिसने यह ज्ञान लाभ नहीं किया है उसका महा सङ्कट है। विवेकी प्रति प्राणी में ब्रह्म साक्षात् कर इस संसार से विरत होते हैं और अमृतत्व लाभ करते हैं।

वेदाहमेतमजरं पुराणं
सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य
ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ।।

श्वेताश्वतर ३।२१

ब्रह्मविद् जिसको जन्म रहित रूप से जानते हैं, और जिसको नित्य रूपसे कहते हैं, वह जरादि रहित पुरातन सभी का आत्मभूत व परि-व्यापक रूप में सभी जगह में विराजमान ब्रह्म को हम जानते हैं।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।।

बृहदारण्यक ४।४।१२

"यह ही मैं" ऐसे यदि कोई मनुष्य परमात्मा को जानता है तो भी वह किसकी अभिलाषा से किसी आवश्यकता से फिर देहके कष्ट में दुःख भोग करेगा ।[१]

ॐ ॥

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

[वे पूर्ण हैं, ये भी पूर्ण हैं । पूर्ण से पूर्ण उद्गत होते हैं । पूण से पूर्ण लेने से पुण ही अवशिष्ट रह जाते हैं ।]

१। वे सर्वात्मक इसलिये उनका भोग्य वस्तु नहीं है । भोग करने वाला भी नहीं है । सुतराम् देहोपाधिजनित दुःख भोग भी नहीं है ।

श्रीरामकृष्ण-उपदेश

जीवन का अवस्था भेद

१। मनुष्य वालीसको खोल की तरह। वालीसके (तकिया) ऊपर में देखने से कोई लाल, कोई काला है, परन्तु भीतर में एक ही रुई है। मनुष्य को देखने में कोई सुन्दर, कोई काला; कोई साधु कोई असाधु है। तो भी सभी के भीतर में वे एक ईश्वर रहते हैं।

२। संसार में दो प्रकार के मनुष्य हम देखते हैं। और कई सूर्प की तरह स्वभाव विशिष्ट और कई चालनी की तरह। सूर्प जैसा भूसा आदि असार वस्तुएँ छोड़कर सार वस्तुएँ रखता है वैसा ही कोई मनुष्य असार वस्तु (कामिनीकाञ्चनादि) छोड़कर सार वस्तु भगवान को लेते हैं। परन्तु कई मनुष्य चालनी की तरह सार वस्तु ईश्वर को छोड़कर, असार वस्तु कामिनी काञ्चनादि लेते हैं।

३। सभी जल नारायण है परन्तु सभी जल नहीं पी जा सकता है। सभी जगह में ईश्वर हैं परन्तु सभी जगह में नहीं जा सकता है। जैसा कोई पानी से पैर धो सकता है, कोई पानी से मुँह धो सकता है, कोई पानी पी सकता है फिर कोई पानी छुआ तक नहीं सकता है वैसा ही कहीं-कहीं जा सकता है परन्तु कोई जगह से दूर से प्रणाम कर भाग जाना पड़ता है।

४। गुरुजी ने एक शिष्य को कह दिया कि सभी पदार्थ नारायण है। शिष्य भी वही समझा। एक दिन मार्ग में एक हाथी आ रहा था

ऊपर से महांवत ने कहा 'हट जाओ'। शिष्यों ने सोचा कि मैं भी नारायण हूँ हाथी भी नारायण है। नारायण से नारायण का क्या डर है। वह नहीं हटा। अन्त में हाथी ने शूँड़ से फेक दिया। इससे उसका आघात लगा, पर उसने गुरु से सभी घटना कही। गुरुजी ने उत्तर दिया कि—ठीक कहे हो, तुम नारायण, हाथी भी नारायण परन्तु ऊपर से महांवत रूपी नारायण ने तुमको सावधान कर दिया था, तुमने महांवत नारायण की बात क्यों नहीं मानली।

धर्म उपलब्धि की वस्तु है

१। कितने दिन तक शास्त्र विचार की आवश्यकता है? जितने दिन तक सच्चिदानन्द का साक्षात् कार नहीं होता है। जैसा भ्रमर जितना तक फूल के उपर में नहीं बैठता है तब तक ही वह गुणगुणाता है। जब फूल की उपर बैठ कर मधु पीता ह, तब वह बिलकुल चुप चाप रहता है।

२। एक दिन महात्मा केशवचन्द्र सेन रामकृष्ण परमहंसजी से पूछा कि अनेक पण्डित बहु शास्त्र अध्ययन करते हैं, परन्तु उनका ज्ञान लाभ क्यों नहीं होता है? परमहंसजी ने उत्तर दिया जैसा चील, शकुन आकाश में उँचे से उड़ते हैं परन्तु उनकी दृष्टि भगाड़ में रहती है। वैसा ही बहु शास्त्र पाठ करने से क्या होगा? उनका मन सदा के लिये कामिनी कांचन में आसक्त रहने पर ज्ञान लाभ नहीं कर सकता है।

३। शून्य कलसी में जल भरने के समय में भक् भक् शब्द होता है, परन्तु भर्ती होने के बाद शब्द नहीं होता है। जिसको भगवान लाभ नहीं हुआ है वह ईश्वर के बारे में शोर मचाता है फिर जिसको ईश्वर का दर्शन हुआ हैं वह स्थिर चित्त होकर ईश्वरानन्द उपभोग करता है।

४। विवेक-वैराग्य नहीं रहने से शास्त्र पढ़ना मिथ्या है। विवेक वैराग्य बिना धर्म लाभ नहीं होता है। यह सत् व यह असत् विचार कर सद्वस्तु ग्रहण करना और देह अलग है व आत्मा अलग है ऐसा विचार बुद्धि ही विवेक है। विषय में वितृष्णा ही वैराग्य है।

५। जैसे बाजार के बाहर खड़ा होकर केवल एक ही "हो हो" शब्द सुना जाता है, भीतर प्रवेश कर देखा जाता है कि कई दर भाव करते हैं, कई पैसा देते हैं, कई खरीद करते हैं आदि, वैसा धर्म जगत में बाहर से धर्म की अवस्था कुछ भी नहीं समझा जाता है।

संसार और साधन

१। एक मनुष्य पूछता है कि—संसार में रह कर ईश्वर की आराधना सम्भव या नहीं ? परमहंसजी हँसकर कहते हैं—गाँव में देखे हैं कि—एक नारी चूड़ा बनाती है। एक हाथ से ऊखली में हाथ देकर चूड़ा हटाती है दूसरी हाथ से बच्चों को गोदी में लेकर दूध पिलाती है, फिर उसमें खरीद्दार से हिसाब करती है। ऐसा हर किस्म का काम करती है परन्तु उसका मन सभी समय में उखली और मूषल में

रहता है। वह जानती है मूषल हाथ पर गिर जाने से हाथ जनम के लिये तोड़ जायेगा। ऐसा संसार में रह कर सभी काम करो। परन्तु मन भगवान के प्रति रखो। उनको छोड़ने से महा अनिष्ट होगा।

२। संसार में रह कर जो साधन कर सकता है वही बीर साधक है। वीर पुरुष जैसा सिर पर बोझ लेकर फिर दूसरी ओर देख सकता है, वीर साधक वैसा ही इस संसार का बोझ लेकर भी ईश्वर को देखता है।

३। निर्लिप्त भाव में संसार करना कैसा है जानते हो? पाँकाल मच्छी की तरह। पाँकाल मच्छी कीचर में रह कर भी उसके देह में कीचर नहीं लगती है।

४। नाव पानी में रहती हे उससे कोई नुकसान नहीं है। केवल लक्ष्य रखना, जैसे नाव के भीतर पानी नहीं घुसता। पानी घुसने से नाव डूब जायेगी। साधक संसार में रहने से कोई नुकसान नहीं है। परन्तु साधक के मन में संसार भाव नहीं रहेगा।

५। कटहल तोड़ने के पहले आदमी हाथ में अच्छी तरह से तेल माखता है, इससे उसके हाथ में कटहल की गन्द नहीं लगता है। वैसा ही इस संसार रूप कटहल को यदि ज्ञान रूपी तेल हाथ में लगाकर सम्भोग करो तो कामिनी-कांचन रूप गन्द की लकीर फिर मन में नहीं लगेगी।

६। ज्ञान लाभ होने से वे संसार में कैसे रहते हैं, जानते हो? जैसा सार्सी के घर में बैठ रहने से अन्दर और बाहर दोनों भी देख सकते हैं।

७। भक्त केशवचन्द्र को देखने के लिये ठाकुर की बड़ी इच्छा हुई थी। तब केशव बाबू ने ब्राह्म भक्त के साथ जयगोपाल सेन के वेलघरिया के बगीचे में रहते थे। ठाकुरजी हृदय मुखर्जी को साथ लेकर वेलघरिया बगीचे में गये थे। तब केशव बाबू भक्तों के साथ तालाब में नहाने के लिये तैयार हो रहे थे। ठाकुरजी उनको देखकर कहे कि इसका दुम खुल गया। इस बात को सुनकर सभी भक्त हँस पड़े। केशव बाबू ने उनसे कहा "तुमलोग न हसो"। ये जो कहते हैं उसका अर्थ है। तब ठाकुरजी कहते हैं—मेढ़क के बच्चों की जितना दिन तक दुम रहती है तब तक वे पानी में रहते हैं। दुम हठ जाने से पानी में या जमीन में रह सकते हैं। वैसा ही भगवान की चिन्ता कर जिसकी अविद्या दूर हो गई वह सच्चिदानन्द सागर में डुब सकता है या संसार में भी रह सकता है।

८। भगवान कल्पतरु हैं। कल्पतरु से जो कुछ चाहते हैं वही मिलता है। इसलिये साधन भजन से जब मन शुद्ध होता है तब साव-धानता से कामना त्याग करना होगा। कैसा जानते हो? एक मनुष्य सेरकर अति विशाल प्रान्तर में पहुँच गया था। मार्ग में कड़ी धूप से और परिश्रम से परिश्रान्त होकर एक वृक्ष की छाया में बैठकर वह सोच रहा था कि इस समय एक बिछौना मिल जाय तो आराम से सो जायेगा। पथिक नहीं जानता था कि वह कल्पवृक्ष की छाया में था। उसकी चाह से तुरन्त एक शय्या आ गई। पथिक अचरज होकर बिछौना में सो गया। फिर वह मन ही मन सोचने लगा इस समय यदि

एक नारी यहाँ आकर मेरी सेवा करे तो आराम से सो सकता हूँ। इस संकल्प के होते ही एक युवती वहाँ आ गई और पथिक के पास बैठकर उसकी सेवा करने लगी। यह देखकर पथिक फूला न समाता। तब वह भूख के मारे सोचने लगा अब कुछ स्वादिष्ट खाना मिल जाय तो अच्छा होगा। खाना भी मिल गया। तब पथिक ने अच्छी तरह भर पेट खाकर सुन्दर शय्या में सोकर दिन भर की घटनाएँ सोचने लगा। चकित से उसके मन में आ गयी अब एक शेर यहाँ आ जाय तो "मैं क्या करूँ"। सोचते ही एक बड़ा शेर वहाँ आ गया और उसको मारकर लहु पीने लगा। पथिक का जीवन नाश हो गया।

इस संसार में जीवों की भी ऐसी अवस्था होती है। ईश्वर साधन करने के समय विषय, धन, मान यश आदि कामना करने से वे कुछ न कुछ लाभ होते हैं, अन्त में शेर का भय रहता है। अर्थात् रोग शोक, ताप, मान, अपमान व विषय नाश रूप व्याघ्र, स्वाभाविक व्याघ्र से ही लाखों गुण यन्त्रणादायक है।

६। एक मनुष्य के मन में अचानक वैराग्य भाव के उदय होते ही अपने भाईयों के पास जाकर कहा—"संसार मेरे मन में अच्छा नहीं लगता है। अभी किसी निर्जन जगह में जाकर ईश्वर की आराधना करूँगा।" उसके कुटुम्बों ने इस शुभ संकल्प में सम्मति दी। वह आदमी ने घर से निकल कर एक सुन सान जगह में गहरा तपस्या करना शुरू कर दिया। क्रमशः बारह साल तपस्या कर वह थोड़ी सी लाभ कर फिर घर में लौटा। स्वजन उसको बहुत दिन बाद देख

कर आनन्दित हुये और पूछे इतना दिन तपस्या कर तुमने क्या ज्ञान लाभ किया है।" तब उसने थोड़ा सा हँस कर एक हाथी के पास जाकर और तीन बार छूकर कहा "तुम मर जाओ"। इससे उस हाथी का शरीर मृतवत् हो गया। फिर हाथी को स्पर्श कर कहा—"हाथी तुम जीओ"। इस से तुरंत ही हाथी बच गया।

इसके बाद नदी के किनारे जाकर मन्त्र बल से पारा पार किया। यह देख कर उसके स्वजन खूब आश्चर्य हुये, परन्तु तपस्वी भाई को कहने लगे—"भाई तुमने इतना दिन तक केवल व्यर्थ ही तपस्या की, हाथी मरा है या ऊँचा है इससे तुम्हारा क्या लाभ हुआ? तुम बारह साल तपस्या कर नदी पारापार होना सीख लिये हो, जो हम लोग एक पैसा खर्च कर नदी पार कर सकते हैं। अतः तुमने व्यर्थ ही समय नष्ट किये हो।" ऐसा श्लेष पूर्ण बात सुन कर उसको होश हुई। और कहना शुरू किया—सच है, इससे मेरा क्या हुआ? इतना कह कर वह ईश्वर के दर्शण के लिये घोरतर तपस्या करने के लिये चला गया।

१०। भगवान दो बार हँसते हैं। जब दो भाई रस्सी लेकर जमीन बखरा करते हैं और कहते हैं कि यह अंश तुम्हारा है और यह अंश मेरा है। उस समय एक बार हँसते हैं। फिर दूसरी बार हँसते हैं जब किसी आदमी को कठीन बीमारी हुआ और उसके स्वजन रोना शुरू कर दिया परन्तु वैद्य कहता है—"क्या डर है मैं उसको आराम कर दूँगा।" वैद्य नहीं जानता है कि ईश्वर जिसको मारता है उसकी रक्षा करना असम्भव है।

११। श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि "हे अर्जुन" अष्टसिद्धि के भीतर एक सिद्धि रहने पर भी हमारा परम भाव तुम नहीं लाभ कर सकोगे। अतः ये यथार्थ भक्त व ज्ञानी वे मानो कोई सिद्धि कामना न करें।

१२। रुपया का अहंकार मत करना। यदि कहो "मैं धनवान् हूँ" परन्तु धनी से भी बहुत धनवान् हैं। शाम को जब जुगनू चमकता है तब वह सोचता हैं "मैं पृथ्वी को आलोकित कर रहा हूँ"। जब ही नक्षत्र उठे तब ही उसका अभिमान दूर हो जाता हैं। फिर नक्षत्र सोचते हैं हम जगत् को आलोक देते हैं परन्तु चन्द्रमा निकलने के बाद तारायें लज्जा पाती हैं। चाँद भी सोचता मेरे किरणों से पृथ्वी जगमगाती है। फिर अरुणोदय होने के पश्चात् चन्द्रमा भी मलिन हो जाता है और उसको देखा भी नहीं जाता है। धनी लोग यदि यह घटनाएँ सोचे तो उनके धन का अहंकार नहीं रहेगा।

१३। सहन शक्ति से बड़ा गुण कोई नहीं है। जो सहन करता है वही रहता है। जो नहीं सहन करता है उसका नाश होता है। अक्षरों में "स" तीन हैं—श, ष, स।

१४। सह्य गुण से दूसरा गुण नहीं है। सभी को सह्य गुण रहना चाहिये। जैसा लोहारशाले में लोहा की निहाई की ऊपर कितने जोर से हाथुरी पिटता है। तो भी वह नहीं बिगड़ता है, वैसा कूटस्थ की तरह बुद्धि रखना चाहिये; जो जैसा कहें या करें सभी सहन करना होगा।

१५। ध्यान ऐसा करना, बिलकुल तन्मय होके करना—डाईलिउट (dilute) हो जायेंगे। जब ठीक ध्यान होता है, पंछी शरीर के ऊपर बैठने पर भी नहीं समझता है। माँ कालीजी के मन्दिर में जब मैं ध्यान करता था तब वहाँ के लोग कहते थे कि आपके शरीर में सालिक, चटक आदि पंछी खेलती है।

माया

१। माया का स्वभाव कैसा है? जानते हो? जैसा पानी में पानीकुम्भी। पानी के मथने से सभी पानीकुम्भी हट जाते हैं—फिर वे अपने जगह में आ जाते हैं। ऐसा ही जितना तक विचार करते हो, साधु संग करते हो, मानो कुछ नहीं है। थोड़ी ही देर में विषय-वासना आ जाती है।

२। साँप के मुँह में विष है। वह जब खाता है तब गरल नहीं लगता है। परन्तु जब दूसरे को खाता है तभी विष लगता है। ऐसा ही भगवान की माया रहती है परन्तु उनको मुग्ध नहीं कर सकती है।

३। माया किसको कहते हैं? पिता, माता, भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, भानजा, भानजी ऐसे सभी स्वजन के प्रति प्यार करना ही माया है। दया किसको कहते हैं? सभी प्राणी मेरे [illegible] रि हैं, ऐसा जानकर सभी से बराबर प्यार करना ही दया है।

४। जिसको भूत पकड़ता है, यदि वह जानता है कि उसको भूत ने पकड़ा है, तब भूत भागता है। मायाग्रस्त जीव यदि एक बार ठीक

जान सकता है कि उसको माया ने आच्छन्न किया है, तब माया उससे हट जाती है।

५। जीवात्मा-परमात्मा के भीतर एक माया का आवरण है। यह माया का आवरण नहीं हटने से परस्पर का साक्षात् नहीं होता है। जैसा पहले रामजी बीच में सीताजी और पीछे लक्ष्मणजी हैं। यहाँ रामजी आत्मा व लक्ष्मण जी जीवात्मा स्वरूप हैं, बीच में जानकी जी माया रूप आवरण होकर रही हैं। जब तक जानकी जी बीच में रहती हैं तब तक लक्ष्मण जी राम को नहीं देखते हैं। जानकी जी के थोड़ा सा हटने से लक्ष्मण जी राम को देख सकते हैं।

६। जैसे सूरज पृथ्वी को आलोकित कर रहा है, परन्तु यदि मेघ सामने में आकर सूरज को आवरण कर देता है तब सूरज को नहीं देख जाता है। ऐसा ही सर्व व्यापी सर्व साक्षी-स्वरूप सच्चिदानन्द को हम लोग माया के आवरण से नहीं देखते हैं।

७। पानी कुम्हीं से भरे हुये तालाब में उतरकर जलकुम्ही को हटा देने से फिर जैसा आता है, वैसा ही माया को हटा देने से फिर आकर मिलती है। परन्तु जलकुम्ही को हटा कर बाँस से बाँध देने पर पानी कुम्ही नहीं आ सकता है। ऐसा माया को हटा कर ज्ञान व भक्ति का वेड़ी देने से कभी माया नहीं आ सकती है।

सच्चिानन्द ही केवल प्रकाश रहते हैं।

ईश्वर

१। जानते हो कि भगवान सभी के भीतर में कैसे रहते हैं? जैसे धनी लोगों की स्त्रियाँ पर्दे के भीतर में रहती है। वे सब को देखती हैं, परन्तु उनको कोई नहीं देखते हैं। भगवान वैसे ही विराजमान रहते हैं।

२। ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं। ब्रह्म जब निष्क्रिय अवस्था में रहते हैं, तब उनको शुद्ध ब्रह्म कहते हैं। फिर जब सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि करते हैं, तब उनका शक्ति का कार्य कहते हैं।

३। साकार और निराकार कैसा है? जैसा पानी व बरफ। जब पानी जम जाता है, तब वह साकार है। फिर जब गल जाता है, तब वह निराकार है।

४। जो साकार वह ही निराकार है। भक्त के निकट वह साकार रूप से आविर्भूत होता है। जैसा महा समुद्र केवल पानी ही पानी, उस में सर्दी से कहीं पानी जम कर बरफ होता है। वैसा ही भक्ति की भक्ति से साकार रूप में दर्शन होता है। सूरज उगने से बरफ पिघलकर पानी हो जाता है, ज्ञानरूपी सूरज उगने से साकार रूप बरफ गल कर पानी हो जाता है व सभी निराकार हो जाता है।

आत्मज्ञान

१। मनुष्य अपने को पहचानने से भगवान् को पहचान सकता है। "मैं कौन हूँ" अच्छी तरह से विचार करने से देखा जाता है कि

"मैं" नाम से कोई वस्तु नहीं है। हाथ, पैर, लहू, मांस आदि में "मैं" कौन हूँ। विचार करने से "मैं" कुछ मिला है ? अन्त में जो रहता है वह आत्मचैतन्य है। अहंभाव दूर होने से भगवान दिखाई देते हैं।

२। दो प्रकार "मैं" है। एक पक्का दूसरा कच्चा। मेरा घर, मेरा पुत्र, यह कच्चा "मैं" है। मैं उनका दास हूँ, मैं उनका पुत्र हूँ यह पक्का "मैं" है। और यह मैं ही नित्य मुक्त ज्ञान स्वरूप है।

३। देह रहने से 'अहंभाव' कभी दूर नहीं होता है। कुछ न कुछ रह जायेगा। जैसे नारियल पेड़ का ढहनी पड़ जाती है, परन्तु उसका दाग रह जाता है। इस प्रकार सामान्य "अहंभाव" मुक्त पुरुष को आवद्ध नहीं कर सकता है।

४। जैसा पैरों में जूता रहने से मनुष्य अनायास से काँटों के ऊपर चला जाता है वैसा ही तत्त्वज्ञान स्वरूप आवरण पहनकर मन इस कन्टकमय संसार में घूम सकता हैं।

५। जब वहाँ-वहाँ (अर्थात् बाहर में) तब तक अज्ञान है। जब यहाँ-यहाँ (अर्थात् अन्तर में) तब ज्ञान है। जिसका यहाँ है (अन्तर में भाव है) उसका वहाँ भी है। (भगवान के पैरों में स्थान है)।

सिद्ध-अवस्था

१। स्पर्श मणि के स्पर्श से लोहा सोना होने पर उसको मिट्टी में रख दो या गन्दगी में फेंक दो वह सोना ही रहेगा, जिसने सच्चिदानन्द

लाभ किया है उनकी अवस्था भी ऐसी है। चाहे वे संसार में रहे या वन में रहे इससे उनको दोष स्पर्श नहीं होता है।

जैसे लोहा का तलवार स्पर्श मणि के स्पर्श से सोना का तलवार बन जाता है, परन्तु उसका आकार प्रकार वैसा ही रहता है, लेकिन उससे हिंसा का काम नहीं चलता है, ऐसा ही भगवान का चरण स्पर्श करने पर उनसे कोई अन्याय का काम नहीं होता है।

३। एक मनुष्य परमहंसजी से पूछता है—सिद्ध पुरुष का कैसी अवस्था होती है? उत्तर में उन्होंने कहा— जैसे आलू, बैंगन सिद्ध होने पर नरम होता है, वैसा सिद्ध पुरुष का स्वभाव नरम हो जाता है। उनका सभी अभिमान चला जाता है।

४। जो जैसी भावना करता है, उसकी सिद्धि भी वसी ही होती है। उदाहरण में कहा जाता है कि अरसोला (तेलचट्टा) काँचकीड़ा को सोचते-सोचते स्वयं काँचकीड़ा बन जाता है। ऐसा सच्चिदानन्द को सोचते-सोचते वे ही आनन्दमय हो जाते हैं।

५। अहंकार कैसा जानते हो? जैसा कमल की दल (पापड़ी), नारियल या सुपारी की शाखा तोड़ जाने पर भी उसमें दाग रह जाता है, वैसा ही अहंकार जाने पर भी उसमें थोड़ा-सा चिह्न रह जाता है। पर उस अहंकार से किसी को कोई नुकसान नहीं पहुँचता है। फिर उससे खाना, पीना, सोना आदि कर्म से अतिरिक्त कुछ नहीं होता है।

६। जितने दिन तक घान रहता है, उसको बो देने से पौधा होता

है, परन्तु उसको सिद्ध करने से पौधा नहीं होता है। वैसा ही जो सिद्ध हो गया है उसको फिर इस संसार में जन्म ग्रहण करना नहीं होता है।

७। जिस मनुष्य ने सिद्धि लाभ किया है अर्थात् जिसका ईश्वर-साक्षात्कार हुआ है, उससे कोई अन्याय काम नहीं हो सकता है। जैसा जो नाच जानता है उसका पैर कभी वेताल नहीं होता है।

८। वृहस्पति के पुत्र कच के समाधि भंग के पश्चात् जब उसका मन बहिर्जगत् में उतर आता था, तब मुनियों ने उनसे पूछा था—अब तुम्हारी कैसी अनुभूति होती है? उसने उत्तर दिया—"सर्वं ब्रह्ममयं" उनके अलावा दूसरा कुछ मैं नहीं देखता हूँ।

सर्वधर्म समन्वय

१। छत ऊपर उठने से सीढ़ी, बाँस आदि के सहारे जैसा उठ सकता है, वैसा ईश्वर के नजदीक जाने के बहुत उपाय है। प्रत्येक धर्म ही एक-एक उपाय है।

२। ईश्वर एक ह, उनके नाम अनन्त हैं, भाव अनन्त हैं। जिसको जो नाम में और जो भाव में उनको पुकारना अच्छा लगता है, वही नाम में या वही भाव में पुकारने से उनको मिलता है।

३। जितना मत है, पथ भी उतना है। जैसा इस काली मन्दिर में आने के लिये कोई नाव से कोई गाड़ी से या कोई पैदल आते हैं, ऐसा ही भिन्न-भिन्न मत से भिन्न भिन्न लोगों को सच्चिदानन्द लाभ होता है।

४। जिसका भाव संकीण है, वह ही दूसरे धम की निन्दा करता है और अपने धर्म को श्रेष्ठ कह कर अपने दल को भारी करता है। पर ये ईश्वरानुरागी वे केवल साधन, भजन करते हैं। उनके भीतर कोई दलादली नहीं रहती है। जैसे पुष्करिणी या तालाब में स्यावला होता है, परन्तु नदी में नहीं जन्माता है।

५। जल एक पदाथ है, देश, काल, पात्र भेद में उसका विभिन्न नाम होता है, कहीं इसको जल कहा जाता है, कहीं पानी और अंग्रेजी में वाटर या एकोआ कहा जाता है। एक दूसरे की भाषा नहीं जानने से किसी की बात कोई नहीं समझते हैं, परन्तु जानने से भाव का कोई व्यतिक्रम नहीं होता है।

६। भगवान का नाम व चिन्ता जसे ही करो उससे कल्याण होगा। जैसे मिशरी की रोटी जैसे ही खाओ मीठी ही लगेगी।

ह्रता

वेदान्तिभिः (मनस) इन्द्रियत्वे निराकृते सुखादिप्रत्यक्षस्य साक्षा-
त्वं न स्यात् इन्द्रियाजन्यत्वात् इति नैयायिकशङ्कायां प्रमाण-
चैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ज्ञानगतप्रत्यक्ष-
त्वप्रयोजकं भवेत्। अयं घट इति इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादेः तद-
वच्छिन्नचैतन्यस्य बहिरेकत्र देशे अवस्थानात् उभयाव-
च्छिन्नं चैतन्यमेकमेव इति घटादिप्रत्यक्षत्वं उपाध्योरेकदेशस्थत्वे प्र-
त्यप्रयोजकत्वात्। अहं सुखीत्यादिज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वं सुखाद्य-
वच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य नियमेन एकदेशस्थत-
याभिन्नचैतन्यस्य (ननु एवं) सुखादिस्मरणस्यापि प्रत्यक्षत्वमिति
पाधिद्वयावच्छिन्नकत्वात्। स्मृतिरूपापत्तिः इति
चेत्। न। स्मर्यमाणस्य सुखस्यातीतत्वेन तदवच्छिन्नचैतन्य-
स्यानत्वेन तत्र उपाध्योर्भिन्नकालीनतया न सुखादिस्मृ-
तेः भेदात् योग्यवर्तमानत्वयोः विषयविशेषणत्वात् अतिव्याप्तिः देहात्मत्वादि
वर्तमानधर्माधर्मज्ञानादौ अतिव्याप्तिः अनभ्युपगमात् सुखवर्तमानत्वादि
भान्तरूपविषये शब्दादपरोक्षज्ञानाभ्युपगमात् सुखवर्तमानत्वे
ज्ञायां सुखी इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं वह्निः अनु-
मा पर्वतो वह्निमान् इत्यादौ पर्वतांशे प्रत्यक्षत्वं वह्निं
तित्वं। तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्न
चैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यज्ञानस्य तत्तदंशे
प्रत्यक्षत्वमिति। लक्षणमिति दिक्।